प्रदीप कुमार : सम्पादक निदेशक



पू र्वो द य प्र का श न
7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

प्रेमचन्द
एक
कृती व्यक्तित्व

IBSN : 81-7037-40

मूल्य : साठ रुपये

☐ प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन, ☐ संचालक : पूर्वोदय प्रा० लि० 7/8, दरियागंज, नई दिल्ली-2 ☐ संस्करण : 1989, ☐ कलापक्ष : रिफार्मा स्टूडियो ☐ मुद्रक : नवचेतन प्रेस प्रा० लि० (लीजिज ऑफ अर्जुन प्रेस) नया बाजार, दिल्ली-6

PREMCHAND : EK KRITI VYAKTITVA (Collection of Reminences, Critical Essays etc.) by JAINENDRA RUMAR
Price Rs. 60.00

अनुक्रम

आमुख

प्रेमचन्द पर जब-तब मुझे कुछ कहना-लिखना हुआ है। उस सबका यह संकलन छापते समय प्रकाशक मांगते हैं कि आदि में मैं फिर कुछ शब्द दूं। यह अदया है। कारण, प्रेमचन्द की स्मृति मेरे लिए निजीय और घनिष्ट है और कष्टकर होता है यह कि वह छिड़े और उमड़े।

प्रेमचन्द जब थे जाहिर में ऐसी कोई बात न थी कि उन पर निगाह जाती। वह साधारण बने रहने में विश्वास रखते थे। आगे आते हुए जमाने में इस तनिक-सी बात का महत्व पहचान में आता जायगा। प्रगट होता जायगा कि हठात् अपनाया गया बड़प्पन अहम्मन्यता का ही रूप है। औरों से छिटककर ही कोई अपने में बड़ा होना चाह सकता है। गहरे मिथ्यात्व में से ऐसी चेष्टा को जन्म मिलता है। यह नहीं कि इस प्रवृत्ति और प्रयास में आज कमी आ गई है, लोग अब भी बढ़ चढ़कर वाग्मी, विद्वान और विजेता बने दीखना चाहते है। लेकिन समय बढ़ रहा है, समझ भी उसके साथ गहरी होती जा रही है और सामान्य ज्ञान की तरह यह बोध सुलभ हो गया है कि विशिष्ट बनने के यत्न के पीछे मन का दैन्य ही काम करता है। महिमा-गरिमा व्यक्तित्व में यदि हो तो शरीर पर नहीं आ छलकती, भीतर

की दीप्ति के रूप में ही वह रहती है, और साहित्य उसी अन्तरंग की अभिव्यंजना है।

जिस प्रेमचन्द पर निगाह नहीं जा सकती थी वह तो कुछेक साल जिये और चले गये। लेकिन अन्तर्भावनाएं उनकी अक्षर रूप में हमारे पास बची रह गई हैं। उनकी आयु की अवधि नही है। इतिहास उनको मिटा नही पाएगा, शायद है कि वह उनके मूल्य को बढ़ा ही जाए। सद्भाग्य कि मुझे उनका संग-साथ भी मिल सका था। उनकी मूरत ज़रा में मन के सामने उतर आती है और बड़ा अजब लगता है। मुझे नहीं पता कि कौन उन्हें क्या जगह देता है या देगा। वे बातें वैसे भी ऊपरी हैं। मैं स्वयं साहित्यालोचन के मूल्य को बेहद सापेक्ष मानता हूं। इन पृष्ठों में कदाचित् उसका आभास भी नहीं मिलेगा। पर यदि इस पुस्तक से उस निपट, निरीह इंसान की किंचित भी झलक पाठक को मिल सकी कि जो जीवन भर जूझता रहा, पाने की लिप्सा या न पाने की कुंठा जिसे नहीं रही और अपने को लेकर अभाव अभियोग का भाव जिसको कभी काट नहीं सका—तो मैं सन्तोष मानूंगा।

१ जनवरी '६७ —जैनेन्द्र कुमार



श्री प्रेमचन्द

प्रेमचन्द :
मैंने क्या जाना और पाया

[एक]

इस साल की होली को गए दिन अभी ज्यादा नहीं हुए। इस बार उस दिन हमारे यहाँ रंग-गुलाल कुछ नहीं हुआ। मुन्नी घर में बीमार थी। मैं अपने कमरे में अकेला बैठा था। मामूली तौर पर होली का दिन फीका नहीं गुजरा करता। पर मुझे पिछले बरस का वह दिन खास तौर से याद आ रहा था। मैं सोच रहा था कि वह दिन तो अब ऐसा गया कि लौटनेवाला नहीं है। ये बीतते हुए दिन आखिर चले कहाँ जाते हैं? क्या कहीं ये इकट्ठे होते जाते हैं? इस भाँति उन जाते हुए दिनों के पीछे पड़कर मैं खुद खोया-सा हो रहा था।

तभी सहसा पत्नी ने आकर कहा : पारसाल इस दिन बाबूजी यहीं थे···

कहते-कहते बीच ही में रुककर वह सामने सूने में देखती हुई रह गईं। मैं भी कुछ कह नहीं सका। उस वक्त तो उनकी ओर देखना भी मुझे कठिन हुआ।

थोड़ी देर बाद बोलीं : मैं आखिरी वक्त उन्हें देख भी न सकी—अम्माजी से अब तक मिलना न हुआ।

यह कहकर फिर मौन साधकर वह खड़ी हो गईं।

तब मैंने कहा कि उस बात को छोड़ो। यह बताओ, मुन्नी का क्या हाल है? सो गई है?

"हाँ, बड़ी मुश्किल से सुलाकर आई हूँ।"

इतने में ही रंग-बिरंगे मुँह, तर-बतर कपड़े और हाथ में पिचकारी लिये बड़ा बालक ऊपर आन पहुँचा। जाने क्या उसके ... में भनक पड़ी थी। आते ही उछाह में रुककर ...

बाबाजी आएँगे ? कब आएँगे ?

अम्मा ने पूछा : कौन बाबाजी ?

बालक ने कहा : हाँ, मैं जानता हूँ—पारसाल जो होली पर थे नहीं, वही बाबाजी ! मैं सब जानता हूँ। अम्मा, वह कब आएँगे ?

उस समय मैंने उसे डपटकर कहा : जाओ, नीचे बालकों में खेलो।

इस पर वह बालक मुझसे भी पूछ उठा : बाबूजी, बनारस-वाले बाबाजी आनेवाले है ? वह कब आएँगे ?

मैंने भी डपटकर कहा : मुझे नहीं मालूम। जाओ, तुम खेलो।

बालक चला तो गया था। हो सकता है कि नीचे खेला भी हो, लेकिन इस तरह उस पारसाल के होली के दिन की याद के छिड़ जाने से मन की तकलीफ़ बढ़ गई।

पत्नी मेरी ओर देखती रही, मैं उनकी ओर देखता रहा। बोल कुछ सूझता ही न था, आखिर काफी देर बाद वह बोली : तुम बनारस कब जाओगे ? मैं भी जरूर चलूँगी।

मैंने इतना ही कहा कि देखो—

बात यह थी कि पारसाल इसी होली के दिन प्रेमचन्दजी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए धूप में खाट पर बैठे थे। नाश्ता हो चुका था और पूरी निश्चिन्तता थी। बदन पर धोती के अलावा बस एक बनियान था जिसमें उनकी दुबली और लाल-पीली देह छिपती न थी। वक्त साढे नौ का होगा। ऐसे ही समय होलीवालों का एक दल घर में अनायास घुस आया और बीसियों पिचकारियों की धार से और गुलाल से उस दल ने उनका ऐसा सम्मान किया कि एक बार तो प्रेमचन्दजी भी चौंक गए। पलक मारते वह तो सिर से पाँव तक कई रंग के पानी से भीग चुके थे। हड़बड़ाकर उठे, क्षण-इक रुके, स्थिति पहचानी, और फिर वह कहक़हा लगा कि मुझे अब तक याद है। बोले : अरे भाई जैनेन्द्र, हम तो मेहमान हैं !

मैंने आगत सज्जनों से, जिनमें आठ बरस के बच्चों से लगा-कर पचास बरस के बुजुर्ग भी थे, परिचय कराते हुए कहा : आप

प्रेमचन्दजी हैं।

यह जानकर सब लोग बहुत प्रसन्न हुए।

प्रेमचन्दजी बोले : भाई, अब तो खैर है न ? या कि अभी ज़हमत बाक़ी है ?

"लेकिन इस दिन खैरियत का भरोसा क्या कीजिए ! और होली के दिन का तो और भी ठिकाना नहीं है।"

इस पर प्रेमचन्दजी ने फिर क़हक़हा लगाया। बोले : तो कौन कपड़े बदले ! हम तो यहीं बैठते हैं खाट पर कि आए जो चाहे।

···सच, यक़ीन करना मुश्किल होता है कि वह दिन अभी एक बरस पहले था और प्रेमचन्दजी अब नहीं हैं। फिर भी, प्रेमचन्द जी तो नहीं ही हैं। इतने दूर हो गए हैं कि जीते-जी उन्हे नहीं पाया जा सकता। इस सत्य को जैसे भी चाहे हम समझें, चाहें तो उसके प्रति विद्रोही ही बने रहें, पर किसी भी उपाय से उसे अन्यथा नहीं कर सकते।

[२]

छुटपन से प्रेमचन्द का नाम सुनता-पढ़ता आया हूँ। वह नाम कुछ-कुछ इस तरह मन में बस गया था जैसे पुराण-पुरुषों के नाम। मानो वह मनोलोक के ही वासी हैं। सदेह भी वह है और इस कर्म-कलाप-संकुलित जगत् में हम-तुम की भाँति कर्म करते हुए जी रहे हैं—ऐसी सम्भावना मन में नहीं होती थी। बचपन का मन था, कल्पनाओं में रस लेता था। उन्हीं पर पल-फूलकर वह पक रहा था। सन् '२६ में शायद, या सन् '२७ में, 'रंगभूमि' हाथों पड़ी। तभी चिपटकर उसे पढ़ गया। कदाचित् एक ही भाग मिला था, वह भी दूसरा। पर उससे क्या ! प्रेमचन्दजी की पुस्तक थी, और शुरू करने पर छूटना दुष्कर था। उसे पढ़ने पर मेरे लिए प्रेमचन्दजी और भी बाध्यता से मनोलोक के वासी हो गए।

पर दिन निकलते गए और इधर मेरा मन भी पकता गया। इधर-उधर की सूचनाओं से वोध हुआ कि प्रेमचन्दजी लेखक ही नहीं हैं और आकाशलोक में ही नहीं रहते, वह हम-तुम जैसे आदमी भी हैं। यह जानकर प्रसन्नता बढ़ी, यह तो नही कह सकता। पर यह नया ज्ञान विचित्र मालूम हुआ और मेरा कौतूहल बढ़ गया।

सन '२६ आते-आते मैं अकस्मात् कुछ लिख बैठा। यों कहिए कि अघटनीय ही घटित हुआ। जिस बात से सबसे अधिक डरता रहा था—यानी, लिखना—वही सामने आ रहा। इस अपने दुस्साहस पर मैं पहले-पहल तो बहुत ही संकुचित हुआ। मैं, और लिखूँ—यह बहुत ही अनहोनी बात मेरे लिए थी। पर विधि पर किसका बस! जब मुझ पर यह आविष्कार प्रकट हुआ कि मैं लिखता हूँ, तब यह ज्ञान भी मुझे था कि वही प्रेमचन्द जो पूरी 'रंगभूमि' को अपने भीतर से प्रगट कर सकते है, लखनऊ से निकलनेवाली 'माधुरी' के सम्पादक हैं। सो कुछ दिनों बाद एक रचना बड़ी हिम्मत बाँधकर डाक से मैंने उन्हें भेज दी। लिख दिया कि यह सम्पादक के लिए नही है, ग्रंथकर्ता प्रेमचन्द के लिए है। छापे में आने योग्य तो मैं हो सकता ही नही हूँ, पर लेखक प्रेमचन्द उन पक्तियों को एक निगाह देख सकें और मुझे कुछ बता सकें तो मैं अपने को धन्य मानूँगा। कुछ दिनों के बाद वह रचना ठीक-ठीक तौर पर लौट आई। साथ ही एक कार्ड भी मिला जिस पर छपा हुआ था कि यह रचना धन्यवाद के साथ वापस की जाती है। यह मेरे दुस्साहस के योग्य ही था, फिर भी मन कुछ बैठने-सा लगा। मैं उस अपनी कहानी को तभी एक बार फिर पढ़ गया। आखिरी स्लिप समाप्त करके उसे पलटता हूँ कि पढता हूँ, पीठ पर फीकी लाल स्याही में अंग्रेजी में लिखा है—'प्लीज आस्क इफ दिस इज ए ट्रान्सलेशन।' जाने किस अतर्क्य पद्धति से यह प्रतीति उस समय मेरे मन में असंदिग्ध रूप में बस गई कि, हो न हो, ये प्रेमचन्दजी के शब्द हैं, उन्हीं के हस्ताक्षर हैं। उस समय मैं एक ही

साथ मानो कृतज्ञता में नहा उठा। मेरा मन तो एक प्रकार से मुर्झा ही चला था, लेकिन इस छोटे-से वाक्य ने मुझे संजीवन दिया। तब से मैं खूब समझ गया हूँ कि सच्ची सहानुभूति का एक कण भी कितना प्राणदायक होता है और हृदय को निर्मल रखना अपने-आप में कितना बड़ा उपकार है।

पर मैंने न प्रेमचन्दजी को कुछ लिखा, न माधुरी को लिखा। फिर भी तब से अलक्ष्य भाव से प्रेमचन्दजी के प्रति मैं एक ऐसे अनिवार्य बन्धन से बँध गया कि उससे छुटकारा न था।

कुछ दिनों बाद एक और कहानी[1] मैंने उन्हें भेजी। पहली कहानी का कोई उल्लेख नहीं किया। यह फिर लिख दिया कि लेखक प्रेमचन्द की उस पर सम्मति पाऊँ, यही अभीष्ट है, छपने लायक तो वह होगी ही नहीं। उत्तर में मुझे एक कार्ड मिला। उसमें दो-तीन पंक्तियों से अधिक न थी। स्वयं प्रेमचन्दजी ने लिखा था—'प्रिय महोदय, दो (या तीन) महीने में माधुरी का विशेषांक निकलने वाला है। आपकी कहानी उसके लिए चुन ली गई है।'

इस पत्र पर मैं विस्मित होकर रह गया। पत्र में प्रोत्साहन का, बधाई का, प्रशंसा का एक शब्द भी नहीं था। लेकिन जो था वह ऐसे प्रोत्साहनों से भारी था। प्रेमचन्दजी की अन्त.प्रकृति की झलक पहली ही बार मुझे उस पत्र में मिल गई। वह जितने सद्भावनाशील थे, उतने ही उन सद्भावनाओं के प्रदर्शन में संकोची थे। नेकी हो तो कर देना, पर कहना नहीं—यह उनकी आदत हो गई थी। मैंने उस पत्र को कई बार पढ़ा था और मैं दंग रह गया था कि यह व्यक्ति कौन हो सकता है जो एक अनजान लड़के के प्रति इतनी बड़ी दया का, उपकार का, काम कर सकता है, फिर भी उसका तनिक श्रेय लेना नही चाहता। अगर उस पत्र के साथ

१. 'अन्धों का भेद'।

चाहिए और क्यों वह 'ऐसी' ही होनी चाहिए। छोटे मुँह बड़ी बात करते मुझे शर्म आनी चाहिए थी। पर प्रेमचन्दजी ने ज़रा भी वह शर्म मेरे पास न आने दी। इतना ही नहीं, बल्कि मुझे मालूम होता है कि उस प्रकार की निर्लज्ज शंका के कारण तो मानो और भी उन्होंने मुझे अपने पास ले लिया। शंकाओं के उत्तर में एक प्रकार से उन्होंने यह भी मुझे सुझाया और याद रखने को कहा कि 'मुझे निर्भ्रान्त न मानना। कहानी हृदय की वस्तु है, नियम की वस्तु नही है। नियम है और वे उपयोगी होने के लिए हैं। हृदय के दान में जब वे अनुपयोगी हो जायँ तब वेशक उन्हे उल्लंघनीय मानना चाहिए—।' उनका जोर इस अन्तिम 'लेकिन' पर अवश्य रहता था। नियम बदलेंगे, वे टूटेंगे भी, पर इस 'लेकिन' से सावधान रहना होगा। प्रेमचन्दजी इस 'लेकिन' की, और उससे आगे की, जिम्मेदारी स्वय न लेकर मानो निर्णायक के ऊपर ही छोड़ देते थे। जैसे कहते हों : 'उधर बहुत खतरा है, बहुत खटका है। मेरी सलाह तो यही है, यही होगी, कि उधर न बढ़ा जाय। फिर भी यदि कोई बढ़ना चाहता है तो वह जाने, उसका अन्तःकरण जाने। कौन जाने मुझे खुशी ही हो कि कोई है तो, जो खतरा देखकर भी (या ही) उधर बढ़ना चाहता है।' कई बार उन्होंने कहा है : 'जैनेन्द्र, हम समाज के साथ है, समाज में है।' यह इस भाव से कहा है कि मानो व्यक्त कर देना चाहते हों कि जो हीन-दृष्टि इतना तक नही देखता उसे तर्क में पड़ने की मेरी ओर से पूरी छुट्टी है !

[३]

इस भाँति दूर-दूर रहकर भी चिट्ठी-पत्री द्वारा परस्पर का अपरिचय बिलकुल जाता रहा था। कुंभ के मेले पर इलाहाबाद जाना हुआ। वहाँ प्रेमचन्दजी का जवाब भी मिल गया। लिखा था : 'अमीनुदौला पार्क के पास लाल मकान है। लौटते वक्त

आओगे ही। जरूर आओ।'

सन '३० की जनवरी थी। ख़ासे जाड़े थे। बनारस से गा
लखनऊ रात के कोई चार बजे ही जा पहुँची थी। अँधेरा था और
शीत भी कम न था। ऐसे वक्त अमीनुदौला पार्क के पासवा
लाल मकान मिल तो जायगा ही, पर मुमकिन है असुविधा :
कुछ हो। लेकिन दरअसल जो परेशानी उठानी पड़ी, उसके लि
मैं बिल्कुल तैयार न था।

क्या मैं जानता न था कि मैं प्रेमचन्दजी के यहाँ जा रहा हूँ
जी हाँ, वही जो साहित्य के सम्राट् हैं, घर-घर जिनके नाम
चर्चा है। उनके-से मशहूर आदमी हैं कितने! मैं जानता था और
बड़ी खुशी से हर किसी को जतलाने को उत्सुक था कि मैं उनके,
उन्हीं के, यहाँ जा रहा हूँ।

लेकिन मैं अपने को कितना भी ज्ञानी जानता होऊँ और अख़बार में छपने लायक दो-एक कहानियाँ भी लिख चुका होऊँ, पर यह जानना मुझे बाकी था कि मैं कितना भूला, भोला, कितना मूर्ख हूँ। महत्ता के साथ मेरे दिमाग़ में जैसे अगले क़दम पर ही महल आ जाता था। जो महल में प्रतिष्ठित नहीं है, क्या ऐसी भी कोई महत्ता हो सकती है? पर मुझे जानना शेष था कि महल और चीज है, महत्ता और चीज है। उन दोनों में कोई बहुत सगा सम्बन्ध नहीं है। महत्ता मन से बनती है, महल पत्थर का बनता है। अतः इन दोनों तत्त्वों में मित्रता अनिवार्य नहीं। किन्तु इस सद्ज्ञान से मैं तब तक सर्वथा शून्य था।

पाँच बजे के लगभग अमीनुदौला पार्क की सड़क के बीचोंबीच आ खड़ा हो गया हूँ, सामान सामने एक निर्जन दूकान के तख्तों पर रखा है। इक्का-दुक्का शरीफ़ आदमी टहलने के लिए आ-जा रहे हैं। मैं लगभग प्रत्येक से पूछता : जी, माफ़ कीजिएगा। प्रेमचन्दजी का मकान आप बतला सकते हैं? नज़दीक ही कहीं है। जी हाँ, प्रेमचन्द!

सज्जन विनम्र, कुछ सोच में पड़ गए। माथा खुजलाया, बोले : प्रेमचन्द ! कौन प्रेमचन्द ?

"जी, वही आला मुसन्निफ़। नावलिस्ट। वह ऐडिटर भी तो है, साहब। मशहूर आदमी है।"

'एँ-एँ, पि...रे...म...च...न्द !' और सज्जन विनीत असमंजस में पड़कर मुझसे क्षमा माँग उठे। क्षमा माँग, विदा ले, छड़ी उठा, मुझे छोड़, वह अपनी सैर पर बढ गए।

उस सड़क पर ही मुझे छः बज आए। साढ़े छः भी बजने लगे। तब तक दर्जनों सज्जनों को मैंने क्षमा किया। लगभग सभी को मैंने अपने अनुसधान का लक्ष्य बनाया था। लेकिन मेरे मामले में सभी ने अपने को निपट असमर्थ प्रगट किया। मैं उनकी असमर्थता पर खीझ तक भी तो न सका, क्योंकि वे सचमुच ही असमर्थ थे।

आस-पास मकान कम न थे और लाल भी कम न थे। और जहाँ मैं खड़ा था वहाँ से प्रेमचन्दजी का मकान मुश्किल से बीस गज निकला। लेकिन उस रोज़ मुझे सभ्रान्त श्रेणी से प्रेमचन्दजी तक के उस बीस गज के दुर्लंध्य अन्तर को लाँधने में काफ़ी देर लगी। और क्या इसे एक संयोग ही कहूँ कि अन्त में जिस व्यक्ति के नेतृत्व का सहारा थामकर मैं उन बीस गजों को पारकर प्रेमचन्दजी के घर पर आ लगा, वह कुल-शील की दृष्टि से समाज का उच्छिष्ट ही था।

मैंने अचानक ही उससे पूछा था : भाई, प्रेमचन्दजी का घर बता सकते हो ?

उसने कहा : मुंशी प्रेमचन्द ?

किन्तु मैं किसी प्रकार के मुंशीपन की मार्फ़त तो प्रेमचन्दजी को जानता न था। मैंने कहा : अच्छा, मुंशी ही सही।

'वह तो है' यह कहकर वह आदमी उठा और मेरे साथ बताने चल दिया। मैंने कहा : ठहरो, जरा सामान ले लूँ। वह व्यक्ति

इस पर मेरे साथ-साथ आया, बिना कुछ कहे-सुने मेरे हाथ से सामान उसने ले लिया। और प्रेमचन्दजी के मकान के जीने के आगे उसे रखकर बोला : घर यह है। अब गुहार लो।

मैंने आवाज दी। वह आवाज इस योग्य न रही होगी कि दूसरी मंजिल पर चढ़कर द्वार-दीवार लाँघती हुई भीतर तक पहुँच जाय। इसलिए उस व्यक्ति ने तत्पर होकर पुकारा—बाबूजी! बाबूजी!

थोड़ी देर बाद जीने के ऊपर से आवाज आई—कौन साहब हैं?

"मैं जैनेन्द्र।"

"आओ भाई!"

[४]

जीने के नीचे से झाँकने पर मुझे जो कुछ ऊपर दीखा उससे मुझे बहुत धक्का लगा। जो सज्जन ऊपर खड़े थे उनकी बड़ी घनी मूँछें थीं, पाँच रुपये वाली लाल इमली की चादर ओढ़े थे जो काफ़ी पुरानी और चिकनी थी, बालों ने आगे आकर माथे को कुछ ढँक-सा लिया था और माथा छोटा मालूम होता था। सिर जरूरत से छोटा प्रतीत हुआ। मामूली धोती पहने थे जो घुटनों से जरा नीचे तक आ गई थी। आँखों में खुमारी भरी दीखी। मैंने जान लिया कि प्रेमचन्द यही हैं। इस परिज्ञान से बचने का अवकाश न था। प्रेमचन्द उन्हें ही जानकर मेरे मन को कुछ सुख उस समय नहीं हुआ। क्या जीते-जी प्रेमचन्द इनको ही मानना होगा? इतनी दूर से इतनी आस बाँध कर क्या इन्हीं मूर्ति के दर्शन करने मैं आया हूँ? एक बार तो जी में आया कि अपने मन के असली रमणीक प्रेमचन्द के प्रति आस्था क़ायम रखनी हो तो मैं यहाँ से लौट ही क्यों न जाऊँ। प्रेमचन्द के नाम पर वह सामने खड़ा व्यक्ति साधारण, इतना स्वल्प, इतना देहाती मालूम हुआ कि—

इतने में उस व्यक्ति ने फिर कहा : आओ भाई, आ जाओ।

मैं एक हाथ में बक्स उठा जीने पर चढ़ने को हुआ कि उस व्यक्ति ने झटपट आकर उस बक्स को अपने हाथ में ले लेना चाहा। बक्स तो खैर मैंने छिनने न दिया, लेकिन तब वह और दो-एक छोटी-मोटी चीजों को अपने हाथ में थामकर जीने से मुझे ऊपर ले गए।

घर सुव्यवस्थित नहीं था। आँगन में पानी निरुद्देश्य फैला था। चीजें भी ठीक अपने-अपने स्थान पर नहीं थीं। पर पहली निगाह ही यह जो कुछ दीखा, दीख सका। आगे तो मेरी निगाह इन बातों को देखने के लिए खाली ही नहीं रही। थोड़ी ही देर में मुझे भूल चला कि यह तनिक भी पराई जगह है। मेरे भीतर की आलोचनाशक्ति न-कुछ देर में मुरझा सोई।

सब काम छोड़ प्रेमचन्दजी मुझे लेकर बैठ गए। सात बज गए, साढ़े सात बज गए, आठ होने आए, बातों का सिलसिला टूटता ही न था। इस बीच मैं बहुत-कुछ भूल गया। यह भूल गया कि यह प्रेमचन्द हैं, हिन्दी के साहित्य-सम्राट् हैं। यह भी भूल गया कि मैं उसी साहित्य के तट पर भौंचक खड़ा अनजान बालक हूँ। यह भी भूल गया कि क्षण-भर पहले इस व्यक्ति की मुद्रा पर मेरे मन में अप्रीति, अनास्था उत्पन्न हुई थी। देखते-देखते बातों-बातों में मैं एक अत्यन्त घनिष्ठ प्रकार की आत्मीयता में घिरकर ऊपरी सब बातों को भूल गया।

उस व्यक्ति की बाहरी अनाकर्षकता उस क्षण से जाने किस प्रकार मुझे अपने-आप में सार्थक वस्तु जान पड़ने लगी। उनके व्यक्तित्व का बहुत-कुछ आकर्षण उसी अ-कोमल आन-बान में था। अपने ही जीवन-इतिहास की वह प्रतिमा थे। उनके चेहरे पर बहुत-कुछ लिखा था जो पढ़ने-योग्य था। मैं सोचा करता हूँ कि बादाम में गिरी के लिए, उस गिरी में मिठास के लिए, उस मिठास की रक्षा के लिए क्या यह नितांत उचित और अनिवार्य है कि उसके

ऊपर का छिलका खूब सख्त हो। मैं मानता हूँ कि उस छिलके को कड़ा होने का अवकाश, वैसी सुविधा, न हो तो बादाम की गिरी को कभी वैसा उपादेय बनने का सौभाग्य भी नसीब न हो !

इस जगह आकर प्रेमचन्द की मेरी अपनी काल्पनिक मूर्तियाँ, जो अतिशय छटामयी और प्रियदर्शन थीं, एकदम ढहकर चूर हो गई और मुझे तनिक भी दुःख नहीं होने पाया। माया सत्य के प्रकाश पर टूट बिखरे तो दुःख कैसा ! आते ही एक-डेढ़ घण्टे के क़रीब बातचीत हुई और फलतः प्रेमचन्द के प्रति मेरी आस्था इतनी पुष्ट हो गई कि उसके बाद किसी भी वेशभूषा में, रंग-रूप में वह उपस्थित क्यों न होते, अकुंठित भाव से उनके चरण छुए बिना मैं न रहता।

मैं यह देखकर विस्मित हुआ कि आधुनिक साहित्य की प्रवृत्ति से वह कितने घनिष्ठ रूप में अवगत हैं। योरोपीय साहित्य में जानने-योग्य उन्होंने जाना है। जानकर ही नहीं छोड़ दिया, भीतर से उसे पहचाना भी है और फिर विवेक से छानकर आत्मसात् किया है। वह अपने प्रति सचेत हैं, तत्पर हैं। साथ, स्थिति के प्रति सावधान और उद्यत हैं।

मैंने कहा : बँगला-साहित्य हृदय को अधिक छूता है—इससे आप सहमत हैं ? तो इसका कारण क्या है ?

प्रेमचन्दजी ने कहा : सहमत तो हूँ। कारण, उसमें स्त्री-भावना अधिक है। मुझमें वह काफी नहीं है।

सुनकर मैं उनकी ओर देख उठा। पूछा : स्त्रीत्व है, इसीसे वह साहित्य हृदय को अधिक छूता है ?

बोले : हाँ तो। वह जगह-जगह 'रिमिनिसेंट' (स्मरणशील) हो जाता है। स्मृति में भावना की तरलता अधिक होती है, संकल्प में भावना का काठिन्य अधिक। विधायकता के लिए दोनों चाहिए—

कहते-कहते उनकी आँखें मुझसे पार कहीं देखने लगी थीं।

उस समय उन आँखों की मुर्खी एकदम गायब होकर उनमें एक प्रकार की पारदर्शी नीलिमा भर गई थी। मानो अब उनकी आँखों के सामने जो हो स्वप्न हो। उनकी वाणी में एक प्रकार की भीगी कातरता बज आई थी। वह स्वर मानो उच्छ्वास में निवेदन करता हो कि "मैं कह तो रहा हूँ, पर जानता अंत में मैं भी नहीं हूँ। शब्द तो शब्द हैं, तुम उन पर मत रुकना। उनके अगोचर में जो भाव ध्वनित होता हो उसी में पहुँचकर जो पाओगे, पाओगे। वहीं पहुँचो, हम-तुम पर रुको नहीं। राह में जो है, बाधा है। लाँघते जाओ, लाँघते जाओ। उल्लंघित होने में ही बाधा की सार्थकता है।'

बोले : जैनेन्द्र, मुझे कुछ ठीक नहीं मालूम। मैं बंगाली नहीं हूँ। वे लोग भावुक हैं। भावुकता में जहाँ पहुँच सकते हैं, वहाँ मेरी पहुँच नही। मुझमें उतनी देन कहाँ? ज्ञान से जहाँ नही पहुँचा जाता, वहाँ भी भावना से पहुँचा जाता है। वहाँ भावना से ही पहुँचा जाता है। लेकिन जैनेन्द्र, मैं सोचता हूँ, काठिन्य भी चाहिए—

कहकर प्रेमचन्द जैसे कन्या की भाँति लजा उठे। उनकी मूँछें इतनी घनी थी कि बेहद। उनमें सफेद बाल तब भी रहे होंगे। फिर भी मैं कहता हूँ, वह कन्या की भाँति लज्जा में घिर गए। बोले : जैनेन्द्र, रवीन्द्र-शरत् दोनों महान् हैं। पर हिन्दी के लिए क्या वही रास्ता है? शायद नही। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। मेरे लिए तो वह राह नही ही है।

उनकी वाणी में उस समय स्वीकारोक्ति ही बजती मुझे सुन पड़ी। गर्वोक्ति की तो वहाँ सम्भावना ही न थी।

बातों का सिलसिला अभी और भी चलता, लेकिन भीतर से खबर आई कि अभी डॉक्टर के यहाँ से दवा तक लाकर नही रखी गई है, ऐसा हो क्या रहा है? दिन कितना चढ़ गया, क्या इसकी भी खबर नही है!

प्रेमचन्द अप्रत्याशित भाव उठ खड़े हुए। बोले : ज़रा दवा ले आऊँ, जैनेन्द्र। देखो, बातों में कुछ खयाल ही न रहा।

कहकर इतने ज़ोर से कहकहा लगाकर हँसे कि छत के कोनों में लगे मकड़ी के जाले हिल उठे। मैं तो भौचक रहा ही। मैंने इतनी खुली हँसी जीवन में शायद ही कभी सुनी थी।

बोले : और तुम्हें भी तो अभी नित्यकर्म से निवृत्त होना होगा! वाह, यह खूब रही! और हँसी का वह क़हक़हा और भी द्विगुणित वेग से घर-भर में गूँज गया। अनन्तर मेरे देखते-देखते लपककर स्लीपर पहने, आले में से शीशी उठाई और उन्हीं कपड़ों दवाई लेने बाहर निकल गए।

मेरे मन पर प्रेमचन्द के साक्षात्कार की पहली छाप यह पड़ी। याने कि यह व्यक्ति जो भी है, उससे तनिक भी अन्यथा दीखने का इच्छुक नही है। इसे अपने महत्त्व या दूसरों के मान में आसक्ति नहीं है। इस व्यक्ति को अपने सम्बन्ध में इतना ही पता है कि कोटि-कोटि आदमियों के बीच में वह भी एक आदमी है। उससे अधिक कुछ होने का, या पाने का वह दावेदार नहीं है। मानवोचित प्राप्य का हकदार वह है। और बस, उससे न कम न ज्यादा।

उन दिनों अपने सरस्वती प्रेस, काशी, से 'हंस' निकालने का निश्चय हो रहा था। मैंने पूछा : कि प्रेस छोड़कर, अपने गाँव का घर छोड़कर, यहाँ लखनऊ में नौकरी करें, ऐसी क्या आपके साथ कोई मजबूरी है?

उनसे यह मेरी पहली मुलाक़ात थी। हममें कोई समानता न थी। मेरा यह प्रश्न धृष्टतापूर्ण समझा जा सकता था। लेकिन मैंने कहा न कि पहले ही अवसर पर उनके प्रति मैं अपनी सब दूरी खो बैठा था। मैं लाख छोटा होऊँ, पर प्रेमचन्दजी इतने बड़े थे कि अपनी उपस्थिति में वह मुझे तनिक भी अपने तईं हीन अनुभव नहीं होने देते थे। प्रश्न के उत्तर में निस्संकोच और अकुंठित भाव

से अपनी आर्थिक अवस्था, अथवा दुरवस्था, सब कह सुनाई। तब मुझे पता चला कि यह प्रेमचन्द जो लिखते हैं वह केवल लिखते ही नहीं हैं, उसको मानते भी हैं, उसपर जीते भी है । असहयोग में उन्होंने नौकरी छोड़ दी थी। कुछ दिनों तो वह असहयोग ही एक काम रहा। फिर क्या करें? कुछ दिनों कानपुर-विद्यालय में अध्यापकी की। फिर काशी-विद्यापीठ में आये । आन्दोलन तब मद्धिम पड़ गया था । सोचने लगे, कही ऐसा तो नहीं है कि मैं और मेरा वेतन विद्यापीठ पर बोझ हो रहा है। इस तरह के सोच-विचार में उसे छोड़ दिया। अब क्या करें?

क्यों, मैंने कहा, आपके हाथ में तो क़लम थी। फिर प्रश्न कैसा कि क्या करें?

नहीं जैनेन्द्र, वह बोले, तुम्हारा ख्याल ठीक नहीं है। यह मुल्क विलायत नही है। विलायत हो जाय, यह भी शायद मैं नहीं चाहूँगा।

फिर बताया कि लिखने पर निर्भर रहकर काम नही चलता। मन भी नही भरता, खर्च भी पूरा नही होता। तबीअत बेचैन हो जाती है । फिर किन-किन हालतों में से गुजरना पड़ा, यह भी सुनाया। आखिर यहाँ-वहाँ से कुछ पूंजी बटोरकर प्रेस खोला। पर बाज़ारवालों से निपटना न आता था। प्रेस गले का ऐसा कौर बन गया, जो न निगला जाय, न उगलते ही बने । अपना लेना पटे नही, देनदारों को देना सो पड़े ही । ऐसी हालत में प्रेमचन्दजी जैसे व्यक्ति की गति अकथनीय हो गई । और कुछ न सूझा तो प्रेस में ताला डाल घर बैठ रहे। प्रेस न चले तो न सही, पर जान को कब तक घुलाया जाय ! पर ऐसी हालत में पैसे का अभाव ही चारों ओर दीखने लगा। और उस अभाव से घिरकर तबीअत घुटने लगी।

अब बताओ जैनेन्द्र, वह बोले, क्या तब भी नौकरी न करता? अब यह है कि रोटी तो चल जाती है। प्रेस प्रवासीलाल चलाते

है । और बोले कि प्रेस से एक मासिक पत्र निकालना तय किया है, 'हंस' । क्या राय है ?

मैंने पूछा : क्यों तय किया है ?

'प्रेस का पेट भरना है कि नही ! छपाई का काम काफ़ी नही आता और फिर हमारा यह साहित्य का शगल भी चलता रहेगा।'

मैंने कहा : अच्छा तो है ।

बोले, 'हंस' को कहानियों का अख़बार बनाने का इरादा है । उम्मीद तो है कि चल जाना चाहिए । ईश्वरीप्रसादजी को तो जानते ही होगे । नहीं ? ख़ैर, शाम को 'हंस' का कवर-डिजाइन लाएँगे । जिन्दादिल आदमी हैं, मिलकर खुश होगे । कहानियों का एक अख़बार हिन्दी में हो, इसका वक्त आ गया है । क्यों ?

'हंस' के सम्बन्ध में उनको मिथ्या आशाएँ न थीं, पर वह उत्साहशील थे । 'हंस' के समारम्भ को लेकर वह उस समय नवयुवक की ही भाँति अपने में वेग अनुभव करते थे ।

पहली बार मैं वहाँ ज्यादा नही ठहर पाया । सवेरे गया, शाम चल दिया । लेकिन इसी बीच प्रेमचन्दजी की अपनी निजता और आत्मीयता पूरी तरह प्रस्फुटित होकर मेरे भाग्य में आ गई ।

[५]

खाना खा-पीकर बोले : जैनेन्द्र, चलो दफ़्तर चलते हो ?

मैं चलने को उद्यत था ही । बाहर आकर जिस ढग से उन्होंने इक्केवाले को पुकारा, उसको पटाया, इक्के में बैठते-बैठते उसके कुशल-क्षेम की भी कुछ खबर ले ली, जिस सहज भाव से उन्होंने उससे एक प्रकार की अपनी समकक्षता ही स्थापित कर ली—वह सब कहने की यह जगह शायद न हो, लेकिन मेरे मन पर वह बहुत सुन्दर रूप में अंकित है । इसलिए और भी कि तभी और उसी लखनऊ में एक मित्र के साथ का अनुभव था कि वह तो इक्के में बैठ न सकते थे; तांगा करता तो उनका नौकर, और

मजाल कि वह एक लफ़्ज़ इस-उसने बोलना गवारा करें !

रास्ते में एकाएक बोले : कहो जैनेन्द्र, सामुद्रिक शास्त्र के बारे में तुम्हारी क्या राय है ?

मैंने पूछा : आप विश्वास करते हैं ?

बोले, क्या बताऊँ ! लेकिन दफ़्तरी एक दोस्त हैं, अच्छा हाथ देखना जानते हैं। भाई, उनकी बताई कई बातें ऐसी सही बैठी हैं कि मैं नहीं कह सकता, यह सारा शास्त्र पाखण्ड है।

मैंने कहा, तो आप विश्वास करते हैं ! मैं तो कभी नहीं कर पाया।

बोले, इतने लोग इतने काल से ईमानदारी के साथ इस ओर अनुसन्धान में लगे रहे हैं, उनके परिणामों की हम अवज्ञा कर सकते हैं ?

मुझे सुनकर विस्मय हुआ। मैंने कहा, तो विश्वास करना ही होगा आप परमात्मा में जो विश्वास नहीं करते हैं।

प्रेमचन्दजी गम्भीर हो गए। बोले, जैनेन्द्र, मैं कह चुका हूँ, मैं परमात्मा तक नहीं पहुँच सकता। मैं उतना विश्वास नहीं कर सकता। कैसे विश्वास करूँ जब देखता हूँ, बच्चा बिलख रहा है, रोगी तड़प रहा है ? यहाँ भूख है, क्लेश है, ताप है, वह ताप इस दुनिया में कम नहीं है। तब उस दुनिया में मुझे ईश्वर का साम्राज्य नहीं दीखे, तो यह मेरा क़सूर है ? मुश्किल तो यह है कि ईश्वर को मानकर उसे दयालु भी मानना होगा। मुझे वह दयालुता नहीं दीखती। तब उस दयासागर में विश्वास कैसे हो ? जैनेन्द्र, तुम विश्वास करते हो ?

मैंने कहा, उससे बचने का रास्ता मुझे कहीं नजर नहीं आता।

प्रेमचन्दजी मौन हो गए। उनकी आँखों की पुतलियाँ स्थिर हो गईं और कहीं दूर गड़ गईं। मग्न मौन की वह गम्भीरता ऐसी थी कि हम सब उसमें दब ही जायें।

आफ़िस पहुँचकर उन मित्र को मेरा हाथ दिखलाया गया।

उन्होंने काफ़ी युक्तिपूर्ण बातें कहीं। मेरे लिए दुष्कर था कि कह डालूं कि जो कुछ बताया गया, वह गलत है। आफ़िस से लौटते वक्त प्रेमचन्दजी ने पूछा—कहो जैनेन्द्र, अब क्या कहते हो ?

मैंने कहा, सामुद्रिक शास्त्र पर मेरी आस्था की बात पूछते है ? वह ज्यों-की-त्यों है, यानी दृढ़ नही हुई।

यह बात सुनकर जैसे प्रेमचन्दजी को दु.ख हुआ। दूसरों के अनुभव-ज्ञान की यह उन्हें अवज्ञा ही प्रतीत हुई। प्रेमचन्दजी के मन में यों मूलतत्त्व, अर्थात् ईश्वर, के सम्बन्ध मे चाहे अनास्था ही हो, लेकिन मानव-जाति द्वारा अर्जित वैज्ञानिक हेतुवाद पर और उसके परिणामों पर उनको पूरी आस्था थी। असम्मान उनके मन में नही था। वह कुछ भी हों, कट्टर नही थे। दूसरों के अनुभवों के प्रति उनमें ग्रहण-शील वृत्ति थी। धर्म के प्रति उपेक्षा और सामुद्रिक शास्त्र में उनका यथा-किंचित् विश्वास—ये दोनों वृत्ति उनमें युगपत् देखकर मेरे मन में कभी-कभी कुतूहल और जिज्ञासा भी हुई है। लेकिन मैंने उनके जीवन में अंत तक इन दोनों परस्पर विरोधात्मक तत्त्वों को निभते देखा है। वह अत्यन्त स-प्रश्न थे, किन्तु तभी अत्यन्त श्रद्धालु भी थे। कई छोटी-मोटी बातों को ज्यों-का-त्यों मानते और पालते थे, कई बड़ी-बड़ी बातों में साहसी सुधारक थे।

उसी शाम रुद्रनारायणजी भी आए थे। टॉल्स्टाय के लगभग सभी ग्रन्थ उन्होंने अनुवाद कर डाले थे। पर छापने को कोई प्रकाशक न मिलता था। इतनी लगन और मेहनत अकारथ जा रही थी। साधारण प्रकाशक तो इस काम को उठाता किस भरोसे पर, पर साधन-सम्पन्न बड़े प्रकाशक भी किनारा दे रहे थे। इस स्थिति पर प्रेमचन्द भी खिन्न थे। उनका मन वहाँ था जहां साहित्य की असल नब्ज है। बाजार की यथार्थताओं पर उनका मन मलिन हो आता था।

भी दोगे ? मैं सोचे बैठा था, कुछ रोज ठहरोगे ।

उनके शब्दों में कोई स्पष्ट आग्रह नहीं था । आग्रह उनके स्वभाव में ही नहीं था । किसी के जाने-आने की सुविधा-व्यवस्था के बीच में वह कभी अपनी इच्छाओं को नहीं डालते थे । किसी के काम में अड़चन बनने से वह बचते थे । यहाँ तक कि लोगों से मिलते-जुलते असमंजस होता था कि कहीं मैं उनका हर्ज न कर रहा होऊँ । आज के कर्मव्यस्त युग में यह उनके स्वभाव की विशेषता बहुत ही मूल्यवान् थी—चाहे साहित्य-रसिकों को यह थोड़ी बहुत अखरे भी ।

[६]

फिर सन् '३० का राष्ट्रीय आन्दोलन आ गया जिसमें बहुत लोग जेल पहुँचे । इस बीच 'हंस' निकल गया ही था । प्रेमचन्द जी उसके तो संपादक ही थे, इधर-उधर भी लिखते थे, आंदोलन में योग देते थे, और 'ग़बन' उपन्यास तैयार कर रहे थे । यह भाग्य ही हुआ कि वह जेल नहीं गए । पर उनका जेल के बाहर रहना ज्यादा कठिन तपस्या थी । जेल में मैंने जो उनके पत्र पाए, उनसे मैंने जाना कि प्रेमचन्दजी में मैंने क्या निधि पाई है । आरम्भ में ही प्रेमचन्दजी ने सूचना दी—'मेरी पत्नीजी भी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गई है । कल फ़ैसला हुआ है । इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा । मैं जाने का इरादा ही कर रहा था पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बन्द कर दिया ।'

उनके पत्रों में हिन्दी-साहित्य की विहगम आलोचना रहा करती थी, कुछ अपने मन की, स्थिति की, सुख-दुःख की बातें रहा करती थीं । एक पत्र में लिखा—

'····'ग़बन' अभी तैयार नहीं हुआ, अभी सौ पृष्ठ और होंगे । यह एक सामाजिक घटना है । मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली को निभाए जाता हूँ । कथा को बीच से शुरू करना या इस

प्रकार शुरू करना कि जिसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाय, मेरे लिए मुश्किल है।'

मंगलाप्रसाद पारितोषिक पर लिखा—'पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूँगा, पर इस तरह जैसे पड़ा हुआ धन मिल जाय। (अमुक) को या (अमुक) पा जायें, मुझे समान हर्ष होगा।'

आगे लिखा—'मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता। आपने ही एक बार प्रसाद-स्कूल प्रेमचन्द-स्कूल की चर्चा की थी। शैली में ज़रूर कुछ अन्तर है; मगर वह अन्तर कहाँ है, यह मेरी समझ में कुछ नहीं आता।...प्रसादजी के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। रीअलिस्ट हममें से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ।'

× × ×

किसी को अपनाने का उनका तरीक़ा अलग था। इस पत्र में मुझे अपनाया क्या बनाया ही गया है। पर सम्पादकीय रवादारी देखते ही बनती है। मैं तो इस पर पानी-पानी होकर रह गया था। तिस पर यह कि पहली ही मुलाक़ात के बाद यह लिखा गया था:

प्रिय जैनेन्द्रजी !

मैं थर-थर काँप रहा हूँ कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था, इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी, रह गई। आपकी कहानी भी रह गई। अब वे सब फ़रवरी के अंक में जा रही हैं, क्षमा कीजिएगा।

'ग़बन' छप गया है। वाइंडिंग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

भवदीय
धनपत राय

× × ×

उनकी व्यावसायिक स्थिति और मानसिक चिन्ता का अन्दाज इस पत्र से कीजिए—

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए, मिला। मैं आशा कर रहा था देहली (घर) से आ रहा होगा, पर आया लाहौर (जेल) से! ख़ैर, लाहौर (जेल) मुलतान (जेल) से कुछ कम दूर है। उससे कई दिन पहले मुलतान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौट कर आ गया हो, तुम्हें मिल गया हो। अच्छा मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था, आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है, पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गए तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी। अब मैंने गवर्मेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप, कट, सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी गई तो समस्या टेढ़ी हो जाएगी। मेरे पास न रुपये है, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से क़र्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नहीं होना है।

इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। जागरण के बारह अंक निकले लेकिन ग्राहक-संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन

तो व्यासजी ने बहुत किया, लेकिन किसी तरह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह उसे बन्द करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें। मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रूप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान है! मैं जब तक इसे चलाता हूँ। फिर यह तुम्हारी ही चीज है। धन का अभाव है, 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी कई हजारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या! यहां तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूंगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा!

'कर्मभूमि' के तीस फ़ॉर्म छप चुके हैं, अभी करीब छः फ़ॉर्म बाक़ी हैं। अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ही ममताशून्य फ़ैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है।

······इधर पण्डित श्रीराम शर्मा का शिकार, स्वामी सत्यदेव जी की कहानियों का संग्रह, डॉ० रवीन्द्रनाथ की 'षोडशी' आदि पुस्तकें निकली हैं। बाबू वृन्दावनलालजी का 'कुण्डली-चक्र' बड़े शौक से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन उभरा नहीं। गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक। शायद मुझमें भावनाशून्यता का दोष हो।

× × ×

एक उलहने का पत्र देखिए—

प्रिय जैनेन्द्र,

आदाब अर्ज! भाई वाह! मानता हूँ। जून गया, जुलाई

गया और अगस्त का मैटर भी जाने वाला है। जुलाई बीस तक निकल जायगा। लेकिन हजूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये! बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपए तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है। और यश के धनी क्या कुछ (कम) मगरूर और भुलक्कड़ होते हैं?

अच्छा, दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो। कहानी न भेजो, खत तो भेजते रहो। मैं तो इधर बहुत परेशान रहा। याद नहीं आता अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूति-ज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए, यहाँ आ गई है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया, महीनों उसमें लगे। दस्त आए और अभी तक कुछ-न-कुछ शिकायत बाक़ी है। दाँतों के दर्द से भी गला नहीं छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है। और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।

काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखीं है, उर्दू और हिन्दी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।

तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ। (वह प्रबन्ध) लिखा जाता है या नहीं? कोई नई चीज कब आ रही है? बच्चा कैसा है, भगवतीदेवी कैसी हैं, माताजी कैसी हैं? महात्माजी कैसे हैं? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो!

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा? आज·· मालूम हुआ कि यह (अमुक) जी की दया है। ठीक है। मैं तो खैर बूढा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका, और मित्रों ने मुझे आस्मान पर भी चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या

व्यवहार ! भगवती प्रसाद वाजपेयी की कहानी बहुत सुन्दर थी। और इन (चतुरसेन) को हो क्या गया है···कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला। उसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। इस कम्युनल प्रॉपेगेंडा का जोरों से मुकाबला करना होगा।···

× × ×

उनकी कैसी ही अवस्था हो, पर साहित्य में कदर्य और कदर्थ का विरोध करने में उन्हें हिचक न होती थी।

परिस्थितियों ने उन पर कभी रहम नहीं किया। प्रेमचन्दजी ने भी कभी उनसे रहम नहीं माँगा। वह जूझते ही रहे। सारी उम्र इसी में गुजारी, फिर भी नई विपत्तियों का सामना करते उन्हें डर न होता था। वह बचते न थे, कर्तव्य से कतराते न थे। उन्हें पैसे का लोभ न था। हाँ, घाटे का डर तो था ही। आमदनी चाहे कौड़ी न हो, पर ऊपर से घाटे का भूत तो मुँह फाड़ कर खाने न दौड़े। इतना ही चाहिए। पर इतना भी नहीं हुआ। इस घाटे ने उनकी कमर तोड़ दी। 'हंस' चलाया, 'जागरण' चलाया। दोनों में भावना सेवा की भी थी। मैं कह सकता हूँ कि उनमें व्यवसाय की भावना नहीं के बराबर थी। पर दोनों उनका मन और तन तो लेते ही रहे, तिस पर उनसे धन भी माँगते रहे। धन उनके पास देने और देते रहने को कहाँ था ! आखिर सिनेमा की ओर से आए निमन्त्रण को उन्हें सुनना पड़ा। २०-४-३४ को उन्होंने पत्र लिखा—

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र ऐन इन्तजार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा, जब आओगे, तभी उस विषय में बातें होंगी। मगर तुम्हें क्यों सस्पेंस की हालत में रक्खूँ ! बम्बई की एक फ़िल्म-कम्पनी मुझे बुला रही

है। वेतन की बात नहीं, कण्ट्राक्ट की बात है—८,०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुँच गया हूँ जब मेरे लिए इसके सिवा कोई उपाय नहीं रह गया है कि या तो वहाँ चला जाऊँ या अपने उपन्यास को बाज़ार में बेचूँ। मैं इस विषय में तुम्हारी राय ज़रूरी समझता हूँ। कम्पनी वाले हाजिरी की कोई क़ैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूँ, जहाँ चाहे लिखूँ, उनके लिए चार-पाँच सिनेरियो तैयार कर दूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं एक साल के लिए चला जाऊँ। वहाँ साल-भर रहने के बाद कुछ ऐसा कण्ट्राक्ट कर लूँगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन-चार कहानियाँ लिख दिया करूँ और चार-पाँच हज़ार रुपये मिल जाया करें। उससे 'जागरण-हंस' दोनों मजे में चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा। फिर हमारी दोनों की चीजें धडल्ले से निकलेंगी। लेकिन तुम यहाँ आ जाओ तब क़तई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।...

× × ×

इसके कुछ ही दिन बाद दूसरा पत्र मिला—'भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फलाँ पते पर भेज देना। बस, बोरिया-बकचा सँभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड ख़त लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ़्तर में पड़ा होगा।... (मैंने शायद तुम्हें लिखा है, कि) मुझे बम्बई कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है? मुझे तो कोई हरज नहीं मालूम होता अगर वेतन सात-आठ सौ मिले। साल-दो साल करके चला आऊँगा। मगर मैंने अभी जवाब नहीं दिया है। उनके दो तार आ चुके हैं। प्रसादजी की सलाह है, 'आप बम्बई न जायँ।' तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरीजी कहते हैं, जरूर जाइये। और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है कि जरूर चलो। जीवन का यह भी अनुभव है।'

आखिर फ़िल्मी लाइन में गए ही। लेकिन अनुभव ने बताया

कि वहाँ के योग्य वह न थे। फ़िल्म और प्रेमचन्द, दोनों में पटना संभव न हुआ। वहाँ से उन्होंने लिखा—

'मैं जिन इरादों से आया था उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं, उस लीक से जौ-भर नहीं हट सकते। Vulgarity को ये Entertainment Value कहते हैं। अद्भुत में ही इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मन्त्रियों के षड्यन्त्र, नक़ली लड़ाई, बोसेबाजी—ये ही उनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे। लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगों को सन्देह होता है कि चलें या न चलें। यह साल तो पूरा करना है ही। कर्जदार हो गया था, कर्ज पटा दूँगा, मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास (गोदान) के अन्तिम पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं। उधर मन ही नहीं जाता। (जी चाहता है) यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूं। वहाँ धन नहीं है, मगर सन्तोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है, जीवन नष्ट कर रहा हूँ।'

उनका एक फ़िल्म निकला था, 'मजदूर'। उसका जिक्र करते हुए एक पत्र में लिखा—

'मजदूर तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता। इसके बाद ही एक रोमांस जा रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी इतना जरा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर। फ़िल्म में डाइरेक्टर सब-कुछ है। लेखक क़लम का बादशाह ही क्यों न हो, यहाँ डायरेक्टर की अमलदारी है। और उसके राज्य में उसकी हुकूमत नहीं चल सकती। हुकूमत माने तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूँ, आप नहीं जानते।' इसके विरुद्ध डायरेक्टर जोर से कहता है, 'मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है। और हम यहाँ

जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी गरज है । जो चीज जनता माँगेगी वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है—'अच्छा साहब, हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ । मई के अन्त में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा । और कुछ मुझमें नई कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को सन्तोष नहीं मिला। सन्तोष डाइरेक्टरों को नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो। इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लान सोचता हूँ, उसमें आदर्शवाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें Entertainment Value नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानें न उर्दू। अंग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा लिखा।

'··मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती, न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद। स्टूडियो गये, घर आये । हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।···'

इस भांति फ़िल्म-लाइन से किनारा लेकर उन्हें लौट आना पड़ा। इसके बाद कुछ बहुत ज्यादा दिन उन्हें इस दुनिया में रहने के लिए नहीं मिले।

[७]

मुझे याद है, मुल्तान-जेल में उनका एक पत्र मिला था। लिखा था—'कभी-कभी यहाँ बहुत सूना मालूम होता है, जैनेन्द्र । जी होता है, तुम कुछ लोगों से गले मिल लूँ और फिर जिन्दगी से रुखसत हो जाऊँ। तुम बाहर कब आओगे ? तुम इतनी दूर खड़े

हो कि मैं तड़फड़ा कर रह जाता हूँ।...

इस पत्र को पढ़कर मुझे सुख नहीं हुआ था। मालूम हुआ था जैसे जीवन में रसानुभूति उन्हें स्वल्प रह गई है। धन की, प्रतिष्ठा की, पद-मर्यादा की उन्हें लालसा नही थी; फिर भी साहित्यिक दिशा में उनकी आकांक्षाएँ उड़ती ही थी। साहित्य को लेकर लोक-सग्रहात्मक कार्यों और योजनाओं की ओर रह-रहकर उनकी रुचि जाती थी। पर व्यवहार-क्षमता का उनमें अभाव था और वातावरण इतना जाग्रत न था कि उनका आवाहन करे, उनका उपयोग ले ले। अतः इच्छाएँ उनमें उठतीं और वे फलवती न हो पाती। परिणामतः एक व्यर्थता, निष्फलता, पराजय का भाव उनमें घर करता जाता था।

यह अनुभव करके उनको साहित्य के सार्वजनिक कार्यों की ओर खींचकर लाने की कुछ विधि की गई। पर वह प्रयोग भी विशेष सफल नही हुआ। इधर शरीर में रोग घर कर चला था। जीवन के इस ह्रास ने उसमें योग दिया। वह धीमे-धीमे जीवन के उस किनारे जा लगने लगे। न कह सकूँगा कि मन की साध उनमें वुझ गई थी। वुझी न थी, पर उस पर अविश्वास की, जैसे एक पराभव के भाव की, राख छा गई थी। जिन्दगी के हाथों कम थपेड़े उन्होंने नही खाए थे। वे सब उनके चेहरे पर, उनकी देह पर लिखे थे। वे चोटें जिस हद तक हो सकी प्रेमचन्द के मानस में से शुद्ध (सब्लिमेट) होकर साहित्य के रूप में प्रस्फुट हुई थी। पर तलछट भी अवशेष बचा ही था। उसी ने उनके मन को किसी कदर खट्टा बना दिया था। अन्त समय में भी वह खटास पूरी तरह उनको नहीं छोड़ सकी।

किन्तु इस सम्बन्ध की चर्चा इस स्थल पर विशेष न हो सकेगी। यहाँ मैं उनके एक पत्र का उल्लेख करने का लोभ संवरण नहीं कर सकता जो उनके मन के उद्विग्न स्नेह को फुहार की भाँति ऊपर खिला देता है। यह माताजी के देहान्त पर उन्होंने मुझे लिखा था।

माताजी की मृत्यु पर तो शायद मैं नहीं भी रोया, पर इस पत्र पर आँखें भीग ही आईं—

प्रिय जैनेन्द्र,

कल तुम्हारा पत्र मिला ! मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा उठी कि दिल्ली आऊँ। लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आए हुए हैं और शायद बेटी जा रही है। फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है नहीं। यह तो एक दिन होना ही था। हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी लड़के-से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ। उनका वह स्नेह, वह तुम्हारे लिए जो-कुछ थीं वह तो थी ही, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे, आँख थे, सब-कुछ थे। विरले ही भागवानों को ऐसी माताएँ मिलती हैं। मैं देख रहा हूँ, तुम दुःखी हो, तुम्हारा मुँह सूखा हुआ है, संसार सूना-सूना-सा लग रहा है और चाहता हूँ यह दुःख आधा-आधा बाँट लूँ, अगर तुम दो। मगर तुम दोगे नहीं। उस देवी का इतना ही तो तुम्हारे पास है, मुझे देकर कहाँ जाओगे ? इसे तो तुम सारे-का-सारा अपने सबसे निकट के स्थान में सुरक्षित रखोगे।

काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ। मिले बहुत दिन हो गए। मन तो मेरा ही आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूंगा। तुम—मगर अब तो तुम भी मेरे-जैसे हो, भाई। अब वे बेफ़िक्री के मजे कहाँ !

और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया। क्यों न ईर्ष्या करता ! मैं सात वर्ष का था तब माताजी चली गईं। तुम सत्ताईस वर्ष के होकर मातावाले बने रहो, यह मुझसे कब देखा जाता ! अब जैसे हम, वैसे तुम। बल्कि मैं तुमसे अच्छा। मुझे माता की सूरत भी याद नहीं आती। तुम्हारी माता तुम्हारे सामने

हैं और बोलती नहीं, मिलती नहीं !

और तो सब ठीक है। चतुर्वेदीजी ने कलकत्ते बुलाया था कि जापानी कवि नोगुची का भाषण सुन जाओ। यहाँ नोगुची हिन्दू-यूनिवर्सिटी आए, उनका व्याख्यान भी हो गया। मगर मैं न जा सका। अक़्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गई। ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती है। तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो। जा नहीं रहे, पक्के भगत बन रहे हो। मैं सन्देह से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।

बेचारी भगवती अकेली हो गई।

'सुनीता' जाने कहाँ रास्ते में रह गई। यहाँ कहीं बाजार में भी नहीं। चित्रपट के पुराने अंक उठाकर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा जबरदस्त आईडियल रख दिया। महात्माजी के एक साल में स्वराज्य पानेवाले आन्दोलन की तरह। मगर तलवार पर पाँव रखना है।

तुम्हारा—धनपतराय

[इस पत्र के अन्तिम पैरे के कारण यह कह देना आवश्यक है कि 'सुनीता' पूरी पढने पर प्रेमचन्दजी उससे सहमत न हो सके थे।]

[८]

प्रेमचन्दजी के स्वभाव में बहिर्मुखता जरूरत से कम थी। उनके जीवन का सार्वजनिक पक्ष इसलिए अन्त समय तक कुछ अक्षम ही बना रहा। अन्तर्मुखता भी धार्मिक प्रकार की न थी; उसके प्रकार को कुछ बौद्धिक कहना होगा। वह शंका से आरम्भ करते थे और इस भाँति एक समस्या खड़ी करके उसका समाधान पाने आगे बढ़ते थे। फिर भी लोक-जीवन में जिन मूलभूत नैतिक धारणाओं की स्वीकृति उन्होंने देखी, उन धारणाओं पर प्रेमचन्दजी अडिग विश्वास से डटे रहे।

बातचीत में उनके साथ अत्यन्त घनिष्ठ बातों का प्रसंग भी

अवसर आ गया है। पारिवारिक अथवा व्यक्तिगत वृत्तों को ऐसे समय उन्होंने निश्छल विश्वास के साथ खोलकर कह दिया है। उस सबके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन लगभग एक आदर्श सदाशय का जीवन था। बुद्धि द्वारा उन्होंने स्वतन्त्र और निर्बाध चिन्तन के जीवन-व्यवसाय को अपनाया सही, पर कर्म में वह अत्यन्त मर्यादाशील रहे। आर्टिस्ट के संकुचित पच्छिमी अर्थों में उन्होंने आर्टिस्ट बनने की स्पर्द्धा नहीं की। यही मर्यादाशील प्रामाणिकता उनके साहित्य की धुरी है। उनके साहित्य में जीवन की आलोचना तीव्र है, चहुँमुखी है। किन्तु एक सर्वसम्मत आधार-शिला है जिसको उन्होंने मजबूती से पकड़े रखा और जिस पर एक भी चोट उन्होंने नही लगने दी।

जीवन को, विशेष कर लोक-जीवन की समस्याओं को, सर्वथा बौद्धिक और नैतिक-मानसिक रूप देने का परिणाम ही यह हुआ कि जब कि वह जीवन के सफल चित्रकार, भाष्यकार, व्याख्याकार हो सके तब उस जीवन को आन्दोलित करके उसमें नवचेतन और निर्माण-प्रेरणा डालने में उतने सफल नही हो सके। वह जननायक, लोकसंयोजक नही हो सके। बात यह है कि उनके साहित्य में लोक-पक्ष की जितनी प्रधानता मालूम होती है, ठीक उतनी ही गौणता उस पक्ष को उनके जीवन में प्राप्त थी। वह अन्त तक अपने-आप में एक संस्था नही बने, उन्होंने कोई संस्था नहीं बनाई। उनके उपन्यासों में ('गोदान' को छोड़कर लगभग सब में) संस्थाएँ बनी है और उन संस्थाओं द्वारा लोक-जीवन के प्रश्नों का, उनके सुधार का, समाधान दिया गया है। पर प्रेमचन्दजी के जीवन के प्रकाश्य पक्ष में उसका अभाव नजर आता है।

आगामी साहित्य-समीक्षक और इतिहास-विवेचक को भीतरी कारण के प्रकाश में इस गाँठ को समझना और खोलना होगा।

वह भीड़ से बचते थे। भीड़ को दिशा देने की उनमें क्षमता न थी। बात यह थी कि भीड़ में पड़कर वह उस भीड़ को सम-

झते रह जाते थे। वह भीड़ के नहीं थे। सभा-सम्मेलनों में वह मुश्किल से ही जाते थे। वे सभा और सम्मेलन उनको पाकर भी विशेष लाभान्वित होते थे, यह नही कहा जा सकता। उनकी उपस्थिति अवश्य किसी भी सभा और किसी भी सम्मेलन के लिए गौरव का विषय थी; पर ऐसा लगता था कि प्रेमचन्दजी उस सभा में भाग क्या ले रहे हैं, मानो उस सभा का तमाशा देख रहे हैं।

दिल्ली में प्रान्तीय साहित्य-सम्मेलन किया और सभापति बनाया प्रेमचन्दजी को। पर वह आने को ही राज़ी न हों। चिट्ठी-पर-चिट्ठी दी, तार दिए। आखिर माने ही तो तार में लिखा—Well, I accept with protest.

सार्वजनिक सभाओं के प्रति जब यह रुख था तब उधर उलटा ही हाल था। इससे कुछ ज्यादा रोज़ पहले की बात न थी। एक सवेरे गली में दीखता क्या है कि कन्धे पर कम्बल डाले, ख़रामा-ख़रामा चले आ रहे हैं प्रेमचन्दजी। महात्मा भगवानदीनजी और पण्डित सुन्दरलालजी भी तब घर पर थे। सुन्दरलालजी चबूतरे पर से दातन करते-करते बोले, देखना जैनेन्द्र, यह प्रेमचन्दजी तो नहीं आ रहे है।

मैंने कहा, वही तो हैं!

प्रेमचन्दजी के पास आने पर मैंने अचरज से पूछा—यह क्या किस्सा है! न तार, न चिट्ठी, और आप करिश्मे की भाँति आविर्भूत हो पड़े!

बोले, तार की क्या जरूरत थी, बारह आने पैसे कोई फ़ालतू हैं! और देखो, तुम्हारे मकान का पता लग गया कि नहीं!

बात यह थी कि मैंने एक कार्ड में लिखा था कि क्या आप आ सकेंगे? आएँ तो अच्छा रहे। सो प्रेमचन्दजी ने सुनाया कि—भई! तुम्हारी चिट्ठी प्रेस पहुँचने पर कोई दो बजे मिली। टाइमटेबिल देखा, ट्रेन पाँच बजे जाती थी। इससे पहले और कोई गाड़ी थी नहीं। उसी से चला आ रहा हूँ।

मैंने कहा, यह क्या ग़ज़ब करते हैं ! पहले से कुछ खबर तो दी होती । इस तरह से तो आपको बड़ी दिक्क़त हुई होगी । गनीमत मानिए कि दिल्ली, बम्बई नहीं है । और ऐसे क्या आप दिल्ली से बेहद वाक़िफ़ हैं ?

बोले, नहीं जी, सोचा, तुम्हारा मकान मिल ही जाएगा, सो बारह आने बचाओ क्यों ना ! और मकान मिल गया कि नहीं ! और दिल्ली—जिन्दगी में पहली मर्तबा आया हूँ ।

जिन्दगी में पहली बार ! मैंने अविश्वास के भाव से कहा—आप कहते क्या हैं ! तिस पर आप हैं सम्राट् !

प्रेमचन्दजी कहकहा लगा उठे । यह बात सच थी । नौकरी के सिलसिले में वह अपने इर्द-गिर्द के जिलों में ही घूमे थे । दूर जाने का न कुछ काम पड़ा, न कुछ पड़ने दिया । सैर की धुन उनमें कभी थी नहीं । अपने सामने के ही कर्तव्य को वह महत्त्व देते रहे थे और उसी के पालन में अपनी सिद्धि मानते थे । यह बात मेरे लिए अभूतपूर्व और अत्यन्त आश्चर्यकारक थी । इक्यावन-बावन वर्ष की अवस्था में प्रेमचन्दजी-जैसा सर्वविश्रुत व्यक्ति दिल्ली में आकर यह कहे कि वह पहली बार यहां आया है—यह अनहोनी बात नहीं तो और क्या है !

तब चार-पांच रोज प्रेमचन्दजी यहां रहे । उन दिनों लिखना-लिखाना तो होना क्या था ! पण्डित सुन्दरलालजी थे, महात्मा भगवानदीनजी थे । प्रेमचन्दजी को चाहनेवाले और मांगनेवाले उर्दू-हिन्दी के और लोगों की कमी न थी । चर्चाओं में और पार्टियों में वे दिन ऐसे बीते कि पता भी न लगा । उन्हीं दिनों की और यहां की ही तो बात है कि वह पंजाबी सज्जन मिले जिन्होंने प्रेमचन्दजी को पाकर पकड़ ही तो लिया । उनकी कहानी दिलचस्प है और शिक्षाप्रद है ।

स्थानीय हिन्दी-सभा की ओर से प्रेमचन्दजी के सम्मान में सभा की जा रही थी । उन्हें अभिनन्दनपत्र भेंट होने वाला था । उस वक्त

एक पंजाबी सज्जन बड़े परेशान मालम होते थे। वह कभी सभा के मंत्री के पास जाते थे, कभी इधर-उधर जाते थे। प्रेमचन्दजी के पास जाने की शायद हिम्मत न होती थी। प्रेमचन्दजी को उसी रात दिल्ली से जाना था। सभा का काम जल्दी हो जाना चाहिए और वह जल्दी किया जा रहा था। प्रेमचन्दजी ने अपना वक्तव्य कहने में शायद दो मिनट लगाए। सभा की कार्रवाई समाप्तप्राय थी। तभी वह पंजाबी सज्जन उठे और सभा के सामने हाथ जोड़कर बोले—मैं प्रेमचन्दजी को आज रात किसी हालत में नहीं जाने दूँगा। उनके साथ इस सारी सभा को मैं कल अपने यहाँ आमन्त्रित करना चाहता हूँ।

लोगों को बड़ा विचित्र मालूम हुआ। तैयारी सब हो चुकी थी और प्रेमचन्दजी का इरादा निश्चित था। लेकिन वह सज्जन अपनी प्रार्थना से बाज़ न आए। वह बार-बार हाथ जोड़ते थे और अपनी बात सुनाना चाहते थे। किन्तु सभा के लोग इस विघ्न पर कुछ अधीर थे और उन सज्जन के साथ शायद ही किसी को सहानुभूति थी। प्रेमचन्दजी इस भावुकता के प्रदर्शन से बहुत प्रभावित नहीं थे।

किन्तु उन सज्जन को कोई चीज न रोक सकी। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा कि मेरी अरदास आप लोग सुन लीजे, फिर जो चाहे आप कीजिएगा। जब से अखबार में प्रेमचन्दजी के यहाँ आने की खबर पढ़ी तभी से उनके ठहरने की जगह पाने की कोशिश करता हूँ। वह जगह नहीं मिली। अब इस सभा में मैं उनको पा सका हूँ। मैं उनकी तलाश करता हुआ दर्शनों की इच्छा से लखनऊ दो बार गया। एक बार बनारस भी गया। तीनों बार वह न मिल सके। कई बरस पहले की बात है। मैं कमाने के ख्याल से पूरब की तरफ़ गया था। पर भाग्य की बात कि मेरे पास जो था सब खत्म हो गया। मैं घूमता-घामता स्टेशन पर आया। मुझे कुछ सूझता न था, आगे क्या होगा। सब अँधेरा मालूम होता था। जेब में दो रुपए और कुछ पैसे बचे थे। प्रेमचन्दजी के अफ़सानों को मैं शौक़

से पढ़ा करता था। यूँ ही टहलता हुआ व्हीलर की दूकान पर एक रिसाले के स्पेशल नम्बर के सफ़े लौटने-पलटने लगा। उसमें प्रेमचन्दजी का एक अफ़साना नजर आया। मैंने रुपया फेंक रिसाला खरीद लिया और प्रेमचन्दजी की उस 'मन्त्र' कहानी को पढ़ गया। पढ़कर मेरे दिल की पस्ती जाती रही। हौसला खुल गया। मैं लौटकर आया और हार न मानने का इरादा कर लिया। तब से मेरी तरक्क़ी ही होती गई है और आज यहाँ आपकी खिदमत में हूँ। तभी से मैं उस 'मन्त्र' कहानी के मन्त्रदाता प्रेमचन्द की तलाश में हूँ। अब यहाँ पा गया हूँ तो किसी तरह छोड़ नहीं सकता। मेरी बीबी बीमार हैं, वह उठ-बैठ नहीं सकतीं, चल-फिर नही सकतीं। वह कब से प्रेमचन्दजी के दर्शन की आस बाँधे बैठी हैं। और फिर हाथ जोड़कर उन्होंने कहा—अब फ़ैसला आप सब साहबान के हाथ है।

प्रेमचन्दजी की वृत्ति रुकने की नहीं थी, लेकिन उनको रुकना पड़ा। यह घटना मेरे लिए तो आँख खोल देनेवाली ही थी। यह और इस तरह की और-और बातों से प्रेमचन्दजी के दिल्ली-प्रवास के दिन सहज में बीत गए। प्रेमचन्दजी प्रसन्न मालूम होते थे। लेकिन एक बात जानकर मैं साश्चर्य असमंजस में पड़ गया। बातों-बातों में प्रगट हुआ कि इधर के बीस-तीस वर्ष में यह पहले नागा दिन गए हैं जब उन्होंने कुछ काम नहीं किया।

मैंने अत्यन्त विस्मयापन्न भाव से पूछा—आप हर रोज बिना नागा काम करते हैं?

तकलीफ़ में दिन काटें। क्या यह मेरे लिए ठीक है ? और सबको ले चलूं, इतना पैसा कहाँ है ? और जैनेन्द्र, महाकवि रवीन्द्रनाथ तो अपनी रचनाओं द्वारा यहाँ भी हमें प्राप्त हैं। क्या वहाँ मैं उन्हें अधिक पाऊँगा ?

मैंने फिर भी कहा, शान्तिनिकेतन को अधिकार हो सकता है कि वह आपको चाहे। आपने कर्म ऐसे किए हैं कि आप मशहूर हों। तब आप कर्मफल से बच नहीं सकते। चलिए न !

बोले, हाँ, जैनेन्द्र, यह सब ठीक है। लेकिन मैं अपने यहीं पड़ा हूँ, तुम जाओ।

मैंने कहा, हाँ, मैं तो जाऊँगा।

बोले, जरूर-जरूर जाओ। मैं तो खुद कहनेवाला था कि तुम्हें जाना चाहिए। जैनेन्द्र, जवान और बूढ़े में यही तो फ़र्क़ है !

इधर जीवन के अन्तिम पर्व की ओर उन्हें थोड़ा-बहुत साहित्यिक उद्देश्य के नाते से सभा-समाजों में जाने को उकसाया जा सका था। यहाँ दिल्ली साहित्य-सम्मेलन के जलसे में वह आ गए थे। आ तो गए थे लेकिन अपने को पूरी तरह निरुपयोगी भी अनुभव कर रहे थे। बोले, जैनेन्द्र, सम्मेलन के जलसे में मैं आ गया। अब बताओ, क्या करूँ ? मैं उनको क्या कहता, चुप रह जाता था। क्या उनको मैं बताता कि उनका स्थान क्या है और कहाँ है, और लोगों की क्या-क्या आशाएँ उनके साथ बँधी है ? लेकिन सच यह है कि ऐसे मौकों पर अपनी उपस्थिति वह अयाचित अनुभव करते थे। जब लोग शब्दों को लेकर या पदों को लेकर आपस में बहस-तहस और छीन-झपट करते थे तब उनका कहीं थोड़ी ठण्डी हवा खाने का जी होता था। कहा करते थे कि इनको भी इस समय थोड़ी ठण्डी हवा खा लेना चाहिए।

साहित्य के भविष्य के बारे में बातें हुआ करती थीं। सोचा, कुछ बौद्धिक आदान-प्रदान का, परस्पर के सहयोग-क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। प्रान्तीय मर्यादाएँ ऐक्य-विकास पर बन्धन न होनी

चाहिएँ। राष्ट्र एक है, उस ऐक्य को गहराई में अनुभूत करना होगा। इस ओर जो प्रयत्न हुए (यथा, भारतीय साहित्य-परिषद्) उनके समारंभ में प्रेमचन्दजी ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। पर उसमें भी उन्हें रस कम हो गया। वह अपने सहयोगियों से आशाएँ ऊँची रखते थे। वह मानव-प्रकृति का मूल्य यथार्थ से कुछ अधिक ऊँचा आँकते थे। परिणामत. जब-जब वह समाज में आए, तभी-तब विरक्ति की भावना लेकर उन्हें फिर अपने में ही लौट जाना पड़ा।

[६]

साधारणतया कोमलता की धारा उनमें अन्तःसलिला सरस्वती के समान अप्रकाश्य ही बहती थी। वह रचनाओं में जिस स्पष्टता से दीखती थी, व्यवहार में उतनी ही अगोचर हो जाती थी। फिर भी हठात् वह फूटकर ऐसे प्रगट हो उठी है कि प्रेमचन्दजी को भी चकित रह जाना पड़ा है।

एक बार की बात है। दिन अधिक नहीं हुए। सन्' ३४ का साल होगा। बनारस में बेनिया-पार्क वाले मकान में रहते थे। सवेरे का वक्त था। जाड़े ढल रहे थे। नीचे के कमरे में धूप की किरनें तिरछी पड़ रही थी। मैं जल्दी निवृत्त हो चुका था और उनकी एक पाण्डुलिपि देख रहा था। इतने ही में प्रेमचन्दजी ऊपर से आए। पूछा, तुम नहा चुके?

मैंने कहा, नहा चुका।

मुझे आज देर हो गई।—कहते-कहते वह नीचे फ़र्श पर बैठ गए।

शाम को—रात तक—चर्चा चलती रही थी कि सत्य का स्वरूप कहाँ तक स्थिर मानना होगा और कहाँ तक निरन्तर परिवर्तनीय। उस थिरता और परिणमन में परस्पर क्या अपेक्षा है? लोकाचार विकासशील है या नहीं; अथवा उसकी निश्चित मर्यादा-

रेखाएँ और निश्चित आधार-तत्त्व हैं ? वही चर्चा किसी न किसी रूप मे अब भी उठ आई। वात-वात में प्रेमचन्दजी बोले, भाई जैनेन्द्र, यह किताव powerful (जबर्दस्त) है।

कुछ दिन हुए रूसी उपन्यास 'यामा' उनके यहाँ देखा था। उसी की ओर संकेत था। मैंने तव तक वह पढ़ा न था।

बोले, कहीं-कहीं तो जैनेन्द्र, मुझसे पढ़ा नहीं गया। दिल इतना बेक़ाबू हो गया। एक जगह आँसू रुकना मुश्किल हुआ।...

देखता हूँ कि जैसे वह प्रसंग अब भी उनके भीतर छिड़ गया है और उसी प्रकार आँसू रुकना किसी क़दर मुश्किल हो रहा है।

बोले, उस जगह मुझसे आगे पढ़ा ही न गया, जैनेन्द्र, किताव हाथ से छूट गई। और पुस्तक के उस प्रसंग का वह अनायास ही वर्णन करने लगे।

मैं सुनता रहा।

धूप कमरे में तिरछी आ रही थी। उनके चेहरे पर सीधी तो नहीं पड़ रही थी फिर भी वह चेहरा सामने पड़ता था और उजला दीखता था। मैं कानों से सुनने से अधिक उस कथा को आँखों से देख रहा था। प्रसग वेहद मार्मिक था। प्रेमचन्दजी, मानो अवश-भाव से, आपा खोए-से कहते जा रहे थे।

सहसा देखता हूँ, वाक्य अधूरा रह गया है। वाणी काँपकर मूक हो गई है। आँख उठाकर देखा—उनका चेहरा एकाएक मानो राख की भाँति सफ़ेद हो आया है। क्षण-भर में सन्नाटा हो गया। मुझे जाने क्या चीज छू गई। पल-भर में मानो एक मूर्छा व्याप गई। और पल बीते-न-बीते मैंने देखा, प्रेमचन्द का सौम्य मुख एकाएक विगड़ उठा है। जैसे भीतर से कोई उसे मरोड़ रहा हो। जवड़े जकड़ आए, मानो कोई भूचाल उन्हे हिला गया। सारा चेहरा तुड़-मरुड़कर जाने कैसा हो चला। और फिर देखते-देखते उन आँखों से तार-तार आँसू झर उठे! आँसू आने के साथ चेहरा फिर शान्त हो गया था, पर आँसू झर-झर झर रहे थे।

यह क्या काण्ड हो गया ! मानो प्रेमचन्दजी बहुत ही लज्जित थे। लड़खड़ाती वाणी में बोले, जैनेन्द्र···! आगे उनसे बोला न गया। मानो वह जैनेन्द्र से क्षमा माँगना चाहते थे। उनका अपने ऊपर से क़ाबू बिल्कुल टूट चुका था। आँसू रुकना न चाहते थे। ओह, कहीं हिचकी ही न बँध जाए।

किन्तु मिनट-दो मिनट में वह प्रकृतिस्थ हुए। गालों और मूँछों पर से टपकते आँसुओं को उन्होंने पोंछा नहीं। एक क्षण लज्जित मुस्कान में मुस्काए। कठिनाई से बोले, मुझसे आगे नहीं पढ़ा गया, जैनेन्द्र !

यह व्यक्ति, जो जाने किन-किन मुसीबतों से हँसता हुआ निकल आया है, जो अपने ही दुःख के प्रति इतना निर्मम रहा है, वह पुस्तक के कवि-कल्पित पात्र के दुःख के प्रति इतना तादात्म्य अनुभव कर सकता है कि ऐसी अवशता से रो उठे ! मेरे लिए यह अनुभव अनूठा था। इसके प्रकाश में मैं देख सका कि प्रेमचन्द की अन्तःस्थ वृत्तियाँ कितनी सूक्ष्मस्पर्शी हैं। जो काल के दुर्धर्ष थपेड़ों में अचल रहेगा वही किसी की सच्ची वेदना, सच्चे त्याग पर एकाएक गल-कर किस भाँति बह भी सकता है—मैंने तब जाना।

पुस्तक के उस प्रसंग की बात यहाँ न हो सकेगी। साधारणतया वह इतना वीभत्स, इतना अश्लील मालूम होता था ! पर उस प्रकार की विषम स्थिति में घिरी हुई, ढँकी हुई वहाँ थी एक प्रकार की आध्यात्मिक सौन्दर्य की झलक। अँधेरे में थी इसलिए मानो उसकी चमक और भी उज्ज्वल थी। प्रेमचन्दजी की आँख उसी पर पहुँची और मुग्ध हो गई।

मानवीय भावनाओं का, परनिमित स्नेह का, दैन्य प्रेमचन्दजी में न था। जिसको कलाकार समझा और जाना जाता है उसमें इसकी सम्भावना ही रहती है। कलाकार इतना आत्म-ग्रस्त हो जाता है कि औरों के प्रति निरपेक्ष वृत्ति धारण कर ले। प्रेमचन्दजी आत्म-ग्रस्त न थे। वह बल्कि परव्यस्त थे।

प्रेमचन्दजी ने एक बड़ी दिलचस्प आपबीती सुनाई। एक निरंकुश युवक ने किस प्रकार उन्हें ठगा और किस सहज भाव से वह उसकी ठगाई में आते रहे, इसका वृत्तान्त बहुत ही दिलचस्प है। पहले-पहल तो मुझे सुनकर अचरज हुआ कि मानव-प्रकृति के भेदों को इतनी सूक्ष्मता से जानने और जताने वाला व्यक्ति ऐसा अजब धोखा कैसे खा गया। लेकिन मैंने देखा कि जो उनके भीतर कोमल है, वही कमजोर है। उसको छूकर आसानी से उन्हें ऐंठा जा सकता।

उसी उनकी रग को पकड़ कर उस चालाक युवक ने प्रेमचन्दजी को ऐसा मूँड़ा कि कहने की बात नहीं। सीधे-सादे रहने वाले प्रेमचन्दजी के पैसे के बल पर ऐन उन्हीं की आँखों के नीचे उस जवान ने ऐसे ऐश किए कि प्रेमचन्दजी आँख खुलने पर स्वयं विश्वास न कर सके थे। प्रेमचन्दजी से उसने अपना विवाह तक करवाया, बहू के लिए जेवर बनवाए, और प्रेमचन्दजी सीधे तौर पर सब-कुछ करते गए।

कहते थे, भई जैनेन्द्र, सर्राफ़ को अभी पैसे देने बाक़ी हैं। उससे जो सोने की चूड़ियाँ बहू के लिए दिलाई थीं, उनका पता तो शिवरानी देवी को भी नहीं है। अब पता देकर अपनी शामत ही बुलाना है। पर देखो न जैनेन्द्र, यह सब फ़रेब था। वह लड़का ठग निकला। अब ऊपर-ही-ऊपर जो दो-एक कहानियों के रुपये पाता हूँ उससे सर्राफ़ का देना चुकता करता जाता हूँ। देखना, कहीं घर में न कह देना। मुफ़्त की आफ़त मोल लेनी होगी। बेवक़ूफ़ बने तो उस बेवक़ूफ़ी का दण्ड भी हमें ही भरना होगा!

उस चतुर युवक ने प्रेमचन्दजी की मनुष्यता को ऐसे झाँसे में लिया और उसे ऐसा निचोड़ा कि और कोई होता तो उसका हृदय हमेशा के लिए हीन और कठिन और छूछा पड़ गया होता। पर प्रेमचन्दजी का हृदय इस धोखे के बाद भी मानो और धोखा खाने की क्षमता रखता था। उस हृदय में मानवता के लिए सहज विश्वास

की इतनी अधिक मात्रा थी।

सन्देह नहीं कि कड़वे और तीखे अनुभव-पर-अनुभव पाते रहने के कारण स्वभाव में वह कुछ कठिन और अनुदार और शंकाशील भी हो चले थे। फिर भी मानो उनका सहज औदार्य अनायास उनकी अनुभव-कठिन समझदारी पर विजय पा लेता था।

[१०]

यहाँ उनके साहित्य की विवेचना अभीष्ट नहीं है। उस साहित्य के स्रष्टा साहित्यकार को ही समझने की इच्छा है।

हरेक के लिए एक चीज जरूरी है। वह है, असंलग्नता। काल का जो प्रवाह हमारे सामने होकर चीजों को बदलता-बदलता चला जा रहा है, मनुष्य उस प्रवाह का शिकार ही नहीं है, वह उसके प्रति यत्किंचित् असंलग्नता धारण करके कुछ निर्माण भी करता है। अर्थात्, अपनी ओर से उस प्रवाह को कुछ दिशा भी प्रदान करता है। मनुष्य इसी शक्ति के कारण मनुष्य है। अन्यथा वह पूर्णतः प्राणी ही रहता।

तटस्थ होकर घटनाओं को और व्यक्तियों को और तत्त्वों को देखने की यह शक्ति प्रेमचन्द में प्रचुर मात्रा में थी। उनके विश्वास नुकीले न थे। वह दूसरों पर अपना आरोप करके देखने के मोह में न थे। जो जहाँ था उसको वहीं रहने देते थे। मानो उसको उसी की आँखों से देखना चाहते थे। कलाकार का यही इष्ट है। वह सबको उन्हीं के भीतर से देख सके तो और क्या चाहिए! प्रेमचन्द *जी इस इष्ट की साधना में असावधान न थे। इसी दृष्टि का विकास* अध्यात्म की समत्व-दृष्टि है। '...ब्राह्मणे गवि हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।'

काल में रहकर भी कालातीत स्थिति में अपने को अनुभव करने की यह साधना बहुत हितकारी है। मर्त्यलोक में भी यही साधना अमरता की ओर ले जाती है। प्रेमचन्दजी के साहित्य में

पाई जानेवाली विविधता; सब पात्रों के प्रति लगभग समान भाव से होनेवाला न्याय; उसमें व्याप्त सहानुभूति; उस साहित्य की प्रासादिकता और मनोरंजकता—सब इसी साधना के फल हैं। इस साधना के अभाव में स्वप्न निरा स्वप्न हो जाता है और यथार्थता के साथ उसका विरोध तीव्र से तीव्रतर होता चला जाता है। वैसी साधनाहीन कल्पना में से रोमांटिक (रंगीन) साहित्य का जन्म होता है, उसके मूल में यथार्थ की कठोरता, अप्रियता से हठात् कटने की प्रवृत्ति है। वह दुर्बलता की द्योतक है। मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द पहले प्रणेता हैं जो यत्नपूर्वक यथार्थता से बचने के लिए रोमांस की गली में भूलकर मौज करने नहीं गए। रोमांस को उन्होंने छोड़ ही दिया, सो भी नहीं। उस अर्थ में रोमांस कभी छूटता भी नहीं। कोई लेखक कल्पना को कैसे छोड़ सकता है? कल्पना बिना लेखक क्या? लेकिन अपने हृद्गत रोमास को उन्होंने व्यवहार पर, वास्तव पर, घटाकर देखा और दिखाया।

उन्होंने यथार्थ को ही आदर्श की ओर उभारने की कोशिश की। उनके साहित्य की खूबी यह नहीं है कि उनका आदर्श अंतिम है, अथवा सर्वथा स्वर्गीय है। उसकी विशेषता तो यह है कि उस आदर्श के साथ व्यवहार का लगाव है, निरी निरपेक्षता नही है। वह आदर्श स्वय में कम ऊँचा है तो इसलिए भी कम ऊँचा है कि वह नीचे वालों को ऊपर उठाकर उनके साथ-साथ रहना चाहता है। इस समन्वय की पुष्टता के कारण वह पुष्ट है।

एक बात और याद रखने की है। प्रेमचन्द जब साहित्य में आए तो वह साहित्य, सर्वथा नहीं तो अधिकांश अवश्य, व्यक्ति के लिए एक शगल था, मनोविनोद का एक साधन और व्यापार था। प्रेमचन्दजी आरम्भ में उसके प्रति इसी नाते की धारणा पर साहित्य में प्रविष्ट हुए। शनैः-शनैः ही साहित्य के प्रति उनके मनोभाव उत्तरोत्तर गम्भीर और दायित्वपूर्ण होते गए। अपने साथ वे हिन्दी पाठक को भी उस प्रकार की मनोवृत्ति में उठाते चले गए। हमको

यह याद रखना चाहिए कि 'चन्द्रकान्ता-संतति' या 'नरेन्द्रमोहिनी' के पाठक से उन्होंने आरम्भ किया था। उस पाठक के भरोसे वह लेखक बने। पर उसके विकास के लिए ही था कि उन्हें लेखक बने रहना था। पाठक वही था लेकिन उसे 'भूतनाथ' से 'गोदान' तक ले चलना था। प्रेमचन्द के इस ऐतिहासिक दायित्व को भूलने से न चलेगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी को विवेचक पाठक से काम पड़ा। वह काम इतना गुरु-गम्भीर न था। उसमें विवाद से और तर्क से और योग्यता से काम चल सकता था। अधिक-से-अधिक वह इस या उस तर्क-धारा, विचार-धारा को मोड़ने का काम था। पर प्रेमचन्द के जिम्मे तो समूचे व्यक्तित्व को, समूचे हिन्दी-वर्ग को, एक तल से उठाकर दूसरे संस्कारी तल तक ले चलने का काम आया। वह काम समूचे व्यक्तित्व, समूची आत्मा, को माँगता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी को एक विशेष परम्परा प्रदान की। रूढ़ शिथिलता से उबारकर भारतेन्दु ने हिन्दी को कुछ खुली हवा लगने दी। पर उन परम्पराओं की अपर्याप्तता, अनुपयुक्तता इधर प्रकट हो चली थी। भारतेन्दु के साहित्य में जीवन मानो नाटकीय रंगस्थली है। पर बीसवीं सदी का विज्ञान और वितर्क-संकुल जीवन उससे अधिक जटिल चीज हो चली। हिन्दी को उस भारतेन्दु की साहित्य-परम्परा से आगे बढ़कर इस जीवन-जटिलता का और उसके वैविध्य-वैषम्य का आकलन करने में समर्थ होना था। यह काम परम्परा को तोड़ने से न होता। परम्परा टूटती नहीं है, टूट सकती ही नहीं है : उसको पचाकर आगे बढ़ा जाता है; उसी को विस्तृत किया जाता है, उभारा जाता है। यह काम आलोचना-विलोचना के बस का नहीं है। यह काम स्रष्टा का है, उसके लिए है। साहित्यिक परम्पराओं का निर्माण और संस्कार इतना अधिक विधायक कर्म है कि ध्वसेच्छा अथवा सुधाराग्रह उसके लिए असंगत वृत्ति है। उसके लिए तो अपने सम्पूर्ण जीवन का निवेदन ही चाहिए। इस युग में प्रेमचन्दजी के ऊपर यह दायित्व आया और

उन्होंने निबाहा, ऐसा मेरा विश्वास है। मनोविनोद से उठते-उठते हम साहित्य के प्रति एक अधिक घनिष्ठ-भाव, एक दायित्व-भाव तक आ गए हैं और प्रेमचन्दजी ने हिन्दी पाठक-लेखक के इस मानसिक विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

उनकी रचनाओं को निर्माणकाल के अनुक्रम से देखने पर स्पष्टता से पता चलता है कि वह आगे बढ़ते हुए समय का साथ देने में अपने को लाँघने से भी नहीं चूके। कहीं वह राह में ठहर नहीं गए, साथ देते ही गए। जो उनकी पहली कहानियाँ और पहले उपन्यास हैं, वह पिछली कहानियाँ और पिछले उपन्यास नहीं हैं—इसका कारण यही है कि वह प्रगति से पिछड़ने को तैयार न थे। जब कहानियों में मनोविज्ञान की धुन आरम्भ हुई तब वह उस नई माँग और नये फ़ैशन के प्रति अवज्ञाशील नहीं हुए। जब और जिस तरह की नई जिज्ञासा, नई माँग, पाठक में जगी तब प्रेमचन्द भी उसके प्रति जागरूक और उत्तर में तत्पर दीखे। युग के प्रतिनिधि लेखक के यही लक्षण हैं। वह निरन्तर वर्द्धमान, निरन्तर परिणमनशील है। उन्होंने पाठक को बिछुड़ने नहीं दिया, उसको सँभाले ही रखा। इसमें पाठक असन्तुष्ट भी हुआ तो हो, प्रेमचन्दजी उसके हित को अपने मन से भुलाने वाले न थे। यही कारण है कि 'सेवासदन' की सुसम्पूर्णता और सुसम्बद्धता 'गोदान' में नहीं है। 'गोदान' चित्र की भाँति असमाप्त और काल-प्रवाह के समान थोड़ा-बहुत अनिर्दिष्ट है। पिछली रचनाएँ पहली की भाँति नैतिक उद्देश्य के ढँकने से ढँकी सुरक्षित और बन्द नहीं है, मानो कहीं अनढँकी और खुली रह गई है—इसका कारण यही है। पाठक आदेश नहीं चाहता, निर्देश नहीं चाहता, विस्तृति और जागृति केवल चाहता है। तो प्रेमचन्दजी भी पिछली रचनाओं में निर्देश नहीं देंगे, उन्मुक्त विस्तार देंगे।

'सब्जेक्टिव' आत्मलक्षी, दृष्टि से प्रेमचन्दजी अपनी साहित्य-सृष्टि में निरन्तर गतिमान और प्रगतिशील रहे हैं। अपने भीतर

जीवन का प्रवाह उन्होंने रुकने नहीं दिया। ऑब्जेक्टिव, पदार्थपेक्षी, दृष्टि से मैं उनके साहित्य पर विचार भी नहीं करना चाहता हूँ। इस लिहाज से किसी को कोई रचना अच्छी लग सकती है और दूसरा किसी दूसरी रचना पर अटक सकता है। लेकिन उस माप से प्रेमचन्द के साहित्य का विभाजन उपयोगितापूर्वक किया जाएगा सही, पर उस भाँति उस प्रेमचन्द के तत्त्व को पहुँचना दुष्कर होगा जो उस समूचे साहित्य को एकता की सम्भावना देता है और जो उस सृष्टि का मूल है।

[११]

प्रेमचन्दजी भौतिकवादी नहीं, बुद्धिवादी थे। उनका आधार विवेक अर्थात् विभेदविज्ञान था। फिर भी आज के युग की पच्छिमी प्रवृत्ति से उनको आशंका थी। उनके जीवन में, उनके साहित्य में, उस आशंका के लक्षण अति प्रगट हैं, और उसके प्रति खुली चेतावनी और खुली चुनौती है। उसमें घोषित है कि त्राण शक्ति में नहीं, सेवा में है। महिमा उद्दण्ड विभूति में नही, शान्त समर्पण में है। सिद्धि सुख पर ईर्ष्या करने में नहीं, वेदना के साथ सहानुभूति करने में है। सोशल पॉलिटी का समाधान शहर में नही, गाँव में है। बहुत-कुछ चारों ओर बटोर कर संग्रह करने से जीवन का स्वास्थ्य बढ़ेगा नहीं, घटेगा। उपयोगिता भी बढ़ेगी नही, घटेगी। और आन्तरिक आनन्द तो इस भाँति घिरकर, घुटकर, पीला और निष्प्राण हो ही जाएगा।

[१२]

मुझे एक अफ़सोस है। वह अफ़सोस यह है कि मैं उन्हें पूरे अर्थों में शहीद क्यों नही कह पाता हूँ। मरते सभी हैं। यहाँ बचना किसको है! आगे-पीछे सबको जाना है। पर मौत शहीद की ही सार्थक है, क्योंकि वह जीवन की विजय को घोपित करती है।

आज यही ग्लानि मन में घुट-घुटकर रह जाती है कि प्रेमचन्द शहादत से क्यों वंचित रह गए ? मैं मानता हूँ कि प्रेमचन्द शहीद होने योग्य थे। उन्हें शहीद ही बनना था।

और यदि नहीं बन पाए हैं वह शहीद, तो मेरा मन तो इसका दोष हिन्दी-संसार को भी देता है।

मरने से एक सवा महीने पहले की बात है। प्रेमचन्द खाट पर पड़े थे। रोग बढ़ गया था, उठ-चल न सकते थे। देह पीली, पेट फूला, पर चेहरे पर शान्ति थी।

मैं तब उनकी खाट के बराबर काफ़ी-काफ़ी देर बैठा रहा हूँ। उनके मन के भीतर कोई खीझ, कोई कड़वाहट, कोई मैल उस समय करकराता मैंने नहीं देखा। देखते तो उस समय वह अपने समस्त अतीत जीवन पर पीछे की ओर भी होंगे, और आगे अज्ञात में कुछ तो कल्पना बढ़ाकर भी देखते ही होंगे। लेकिन दोनों को देखते हुए वह सम्पूर्ण शान्त भाव से खाट पर चुपचाप पड़े थे। शारीरिक व्यथा थी, पर मन निर्विकार था।

ऐसी अवस्था में भी (बल्कि, ही) उन्होंने कहा : जैनेन्द्र, लोग ऐसे समय याद किया करते हैं ईश्वर। मुझे भी याद दिलाई जाती है। पर अभी तक मुझे ईश्वर को कष्ट देने की जरूरत नहीं मालूम हुई है।

शब्द हौले-हौले थिरता से कहे गए थे और मैं इस अत्यन्त शान्त नास्तिक सन्त की शक्ति पर विस्मित था।

मौत से पहली रात को मैं उनकी खटिया के बराबर बैठा था। सवेरे सात बजे उन्हें इस दुनिया पर आँख मीच लेनी थी। उसी सवेरे तीन बजे मुझसे बातें होतीं थी। चारो ओर सन्नाटा था। कमरा छोटा और अँधेरा था। सब सोए पड़े थे। शब्द उनके मुँह से फुसफुसाहट में निकलकर खो जाते थे। उन्हें कान से अधिक मन से सुनना पड़ा था।

तभी उन्होंने अपना दाहिना हाथ मेरे सामने कर दिया। बोले,



दाब दो।

हाथ पीला क्या, सफेद था और फूला हुआ था। मैं दाबने लगा।

वह बोले नहीं, आँख मींचे पड़े रहे। रात के बारह बजे 'हंस' की बात होकर चुकी थी। अपनी आशाएँ, अपनी अभिलाषाएँ, कुछ शब्दों से और अधिक आँखों से वह उस समय मुझ पर प्रगट कर चुके थे। 'हंस' की और साहित्य की चिन्ता उन्हें तब भी दबाए थी। अपने बच्चों का भविष्य भी उनकी चेतना पर दबाव डाले हुए था। मुझमें उन्हें कुछ ढारस था।

अब तीन बजे उनके फूले हाथ को अपने हाथ में लिये मैं सोच रहा था कि क्या मुझ पर उनका ढारस ठीक है। रात के बारह बजे मैंने उनसे कुछ तर्क करने की धृष्टता भी की थी। वह चुभन मुझे चुभ रही थी। मैं क्या कहूँ? क्या करूँ?

इतने में प्रेमचन्दजी बोले : जैनेन्द्र!

बोलकर, चुप, मुझे देखते रहे। मैंने उनके हाथ को अपने दोनों हाथों से दबाया। उनको देखते हुए कहा, आप कुछ फ़िकर न कीजिए बाबूजी। आप अब अच्छे हुए। और काम के लिए हम सब लोग हैं ही।

अब मुझे देखते रहे, देखते रहे। फिर बोले, आदर्श से काम नहीं चलेगा—

मैंने कहना चाहा, आदर्श—

बोले, बहस न करो—कहकर करवट लेकर आँखें मींच लीं।

उस समय मेरे मन पर व्यथा का पत्थर ही मानो रख गया। अवार-अवार की चिन्ता-दुश्चिन्ता उस समय प्रेमचन्दजी के प्राणों पर बोझ डालकर बैठी हुई थी। मैं या कोई उसको उस समय किसी तरह नहीं बँटा सकता था। चिन्ता का केन्द्र यही था कि 'हंस' कैसे चलेगा? नहीं चलेगा तो क्या होगा? 'हंस' के लिए तब भी और ... ध्यान उनके मन में थी और 'हंस' न जियेगा, यह कल्पना उ...

असह्य थी। पर हिन्दी-संसार का अनुभव उन्हें आश्वस्त न करता था। 'हंस' के लिए जाने उस समय वह कितना न झुक-गिरने को तैयार थे।

मुझे योग्य जान पड़ा था कि कहूँ, 'हंस' मरेगा नहीं। लेकिन वह बिना झुके भी क्यों न जिए? वह आपका अखबार है, तब वह बिना झुके ही जियेगा।

लेकिन मैं कुछ भी न कह सका और कोई आश्वासन उस साहित्य-सम्राट् को आश्वस्त न कर सका।

थोड़े देर में बोले, गरमी बहुत है, पंखा करो।

मैं पंखा करने लगा। उन्हें नींद न आती थी, तकलीफ बेहद थी। पर कराहते न थे, चुपचाप आँख खोलकर पड़े थे।

दस-पन्द्रह मिनट बाद बोले, जैनेन्द्र, जाओ, सोओ!

क्या पता था अब घड़ियाँ गिनती की शेष हैं। मैं जा सोया।

और सवेरा होते-होते ऐसी मूर्च्छा उन्हें आई कि फिर उससे जगना न हुआ।

× × ×

हिन्दी-संसार उन्हें तब आश्वस्त कर सकता था, और तब नहीं तो अब भी आश्वस्त कर सकता है। मुझे प्रतीत होता है, प्रेमचन्द जी का इतना ऋण है कि हिन्दी संसार सोचे, कैसे वह आश्वासन उस स्वर्गीय आत्मा तक पहुँचाया जावे!

[दो]

प्रेमचन्द को गए अब पन्द्रह वर्ष होते हैं। लेकिन मन को यह समझाना मुश्किल है कि वह अब स्वर्ग के हैं, हमारे समाज और जमाने के नहीं है। सच तो यह है कि उन्हें उठाकर काल ने ग़लती ही की है। न उनकी उम्र इतनी थी, न किसी तरह वह समय से पीछे थे। थे तो एक कदम आगे थे और मौजूदा हालतों में शायद वह आज पहले से भी ज्यादा सही और जरूरी साबित होते।

मेरी पहली मुलाकात उनसे सन् '२९ में हुई। जाड़ों के दिन थे। कुम्भ का मेला पूरा हुआ ही था। बनारस से गाड़ी लखनऊ-स्टेशन पर कोई चार बजे आ लगी थी। तड़का फूटते-फूटते मैं उनके लाल मकान पर जा पहुँचा, लेकिन यह पहुँचना आसान न हुआ। सोचता था कि नामवर आदमी हैं। लाल मकान का पता अपने पास है ही। एक बच्चा तक जगह बता देगा। पर बात उतनी सीधी न निकली। एक डेढ़ घण्टा मुझे लगा अमीनाबाद के पास के उस लाल मकान को पाने में और मालूम हुआ कि आत्मा की और हृदय की और दिमाग की ऊँचाई और दुनियादारी की बड़ाई एक चीज नहीं है। शायद दोनों अलग और समानान्तर हैं।

मकान के जीने के नीचे से आवाज देने पर जब ऊपर प्रेमचन्द प्रकट हुए तो सहसा मन को धक्का लगा। वह रूप देवोपम नहीं मालूम हुआ, और मैं कुछ वैसी ही आस बाँधे था। आगे आए बालों से माथा ढका हुआ, घनी बड़ी मूँछें, क़रीब घुटनों तक बँधी धोती, कन्धों पर लाल किनारी की घिसी-पिटी चादर। कुल मिलाकर जो दृश्य आँखों के सामने पड़ा वह निश्चय ही मनोहारी न था। लेकिन देखते-देखते वह व्यक्ति लपककर जीने से नीचे आया, फौरन मेरे हाथ से सामान की छोटी-मोटी चीज छीनी, और मुझे इस तरह ऊपर ले चला कि मैं समझ ही न सका कि मैं यहाँ अजनबी हूँ, या क्या। ऊपर दालान में एक तरफ मिट्टी का ढेर था, पानी की एक मोटी लकीर कर्ण बनाती हुई इस कोने से उस कोने को मिला रही थी। सहन के बराबर वाले कमरे में, जिसमें हम दाखिल हुए और बैठे, किताबें और कापियाँ मेज-मूढ़ों पर बे-तरतीब खड़ी या पड़ी थीं और स्याही के धब्बे भी वहाँ होने के लिए हर प्रकार स्वतन्त्र थे। किताबों को झट इधर-उधर सरकाकर मेरे लिए मूढ़े पर जगह हुई और हम लोग गप करने बैठ गए—ऐसे कि जैसे कल के दोस्त हैं। मैं कच्ची उम्र का अनाड़ी लड़का, वह एक पहुँचे हुए बुजुर्ग। साहित्य के वह सम्राट्, उसी के तट पर आकर झिझक के साथ

झाँकने वाला उत्सुक मैं। पर प्रेमचन्द की सहृदयता में काल-वय का यह फर्क कोई अन्तर नहीं डाल सका। मैं तक अपनी हीनता भूल गया, और असम्भव नही कि चर्चा में उस समय कुछ अनधिकृत बात तक मैं कह गया होऊँ।

कब नौ बज गए, पता न चला। आखिर अन्दर से आवाज़ आई कि दिन इतना चढ़ गया, दवा नहीं लाकर दी जाएगी! तब वह दुनिया की तरफ़ जागे और जल्दी से पैरों में स्लीपर डाल, ताक से शीशी खीच, नुस्खा तलाश दवा लेने दौड़े। कहा, तुम इतने में हाथ-मुँह धोओ, मैं अभी आया।

प्रेमचन्द का रूप यह था और सब जगह, सब समय, शायद यही रहता था। दुनिया में कुछ कृत्रिमता भी चाहिए, ज्यादा खुले और हार्दिक रहने का यहाँ क़ायदा नही है। जान पड़ता है प्रेमचन्द को दुनिया के इस जरूरी क़ायदे का खयाल नही था और दिमागी तौर पर अगर था भी तो अमल में वह उसे साथ नहीं रख पाते थे।

खा-पीकर बोले, चलो जैनेन्द्र, दफ्तर चलें। मकान से उतरकर मैंने देखा कि हज़रत ने अमीनाबाद से ताँगा नहीं लिया, इक्का किया। मैं एक अच्छे से ताँगे को देखकर बातचीत करना चाहता था, पर वह बोले—नही, इक्के से चलेंगे। ताँगा हमें खींचता है, इक्के पर हम सवार होते है। कोई बात हुई कि मुँह हमारा इधर है और खिंच हम पीठ की तरफ रहे हैं। अपनी चीज तो इक्का है। कहकर कहक़हा लगाया और एक इक्के वाले को इस तरह सम्बोधन किया मानो वह इनका कोई जिगरी दोस्त है। दफ़्तर में पहुँचकर और बैठकर भी कोई दफ़्तरीपन उन [illegible] चढ़ा नहीं [illegible] भी

था, ईश्वरीप्रसाद उसके लिए चित्र तैयार करके लाए थे, और उसी दिन टॉल्सटॉय के ग्रन्थों का अनुवाद लेकर रुद्रनारायण वहाँ आए थे। दोनों के प्रति उनका व्यवहार देखकर मुझे अचम्भा हुआ। मानो कि प्रेमचन्द दूसरे के प्रति अपने बर्ताव में अपनी खुदी को बाद दे देते थे। याद पड़ता है, इस पहले ही मौक़े पर मैं उनसे पूछ बैठा कि अखबार की नौकरी में पड़ने की ऐसी क्या मजबूरी उन्हें थी ? छोड़िए, छुट्टी लीजिए। आप की क़लम क्या आपके लिए सब-कुछ नहीं हो सकती ? इस सवाल पर वह ताज्जुब से मेरी तरफ़ देखने लगे। समझ गये कि मैं अनुभव से कोरा हूँ। पर नाराज़ नहीं हुए, ज़िन्दगी की अपनी लम्बी दास्तान ले बैठे। बताया कि कैसे एक नौकरी से दूसरी नौकरी में गए, इस मुदर्रिसी से वह मास्टरी की। आखिर प्रेस खोला; प्रेस से तंग आकर उसमें ताला डाल घर बैठे। बोले, सुनो एक जगह से पाँच सौ रुपये आने वाले थे, पर दिन इन्त-जार दिखाए जाते थे। आखिर एक दिन ढाई सौ रुपये पहुँच ही गए। सब नोट ज्यों-के-त्यों मैंने श्रीमती के हाथ में दिए।

उन्होंने पूछा, कितने हैं ?

मैंने कहा, ढाई सौ।

झल्लाकर बोली, ढाई सौ ! और ज़ोर से हाथ को झटककर उन्होंने सारे नोट दालान में फेंक दिये, और मुझे उस वक्त वह खरी-खरी सुनाई कि क्या बताऊँ। तंगी में दिन गुज़र रहे थे, सो तो था। लेकिन तब आस तो लगी थी पाँच सौ की रकम पर। उसकी जगह जो आये ढाई-सौ तो पत्नी का धीरज छूट गया। पब्लिशर को कोई क्या कहता, सब तीखा-तुर्श मुझको सुनना पड़ा। उसके बाद जो इस जगह का आफ़र मिला तो मैंने झट क़बूल कर लिया। बताओ, तुम क्या नहीं करते ? अब रोज़-रोज का तो रोना नहीं है !

दिल्ली लौटने के बाद फिर खतो-किताबत का सिलसिला शुरू हो गया। दूसरी मर्तबा मिलना हुआ तो कुछ बड़ी मजेदार बातें

हुई। उस समय उन्होंने मकान बदल लिया था। एक दूसरे मित्र भी तब लखनऊ में रहते थे। उनसे बात हुई कि चलो, प्रेमचन्द के यहाँ चलें। नौकर को हुक्म हुआ कि सवारी लाये। उसने इक्का लाकर खड़ा किया। मित्र ने डाँटकर कहा कि बदशऊर, देख के सवारी ला। दुबारा अच्छा समझकर एक ताँगा ले आया। मित्र की रुचि के लायक वह भी न निकला। आखिर एक फ़ैन्सी रईसी बग्घी लाई गई। मित्र ने रेशमी शेरवानी पहनी, उसकी जोड़ का चुस्त पाजामा, बढ़िया पालिश की शू और सफ़ेद झकझकी टोपी बाँकी करके लगाई। अब चले प्रेमचन्द के यहाँ। वहाँ दरवाज़े के पास आते है तो देखते क्या हैं कि बग़ल से उसी वक्त दबादब लपके चले आ रहे है प्रेमचन्द। बग़ल में छतरी है, दूसरे हाथ में झोला। झोले में से ताजा साग-सब्जी झाँक रही हैं। बदन पर खाली एक कुर्ता, धोती उसी नमूने की ऊँची बँधी हुई। साफ़ था कि क़दमों से लम्बी राह नापते आ रहे है।

उस दृश्य के ये दो विरोधी नमूने मुझे भूलते नहीं है!

उसी कयाम में मैंने पूछा, यह बताइये कि आपको कभी अपघात की भी सूझी है? या सूझती है?

बोले, कई बार। और एक तो अभी कुछ महीने की बात है। फिर आपने अपने जीवन का एक क़िस्सा सुनाया। सवेरे बीवी से कुछ कहा-सुनी हो गई और तय किया कि आज मर जाना होगा। दिन-भर घूमते रहे कि आज किसी तरह घर वापस लौटना नहीं है, मरके छोड़ना है। मगर यों नहीं, वालंटियर जो पिकेटिंग करते हैं वही चुपचाप किसी जत्थे में घुसकर पुलिस की लाठी से सिर तुड़वाकर मरना ठीक होगा। दिन-भर इस कोशिश में भटके, पर सिर कहीं टूटा ही नही। शाम होने के बाद तीन घण्टे अकेले सन्नाटा मार एक बाग़ में बैठे रहे। पर मौत बेदर्म आई ही नहीं। आखिर देखा कि ग्यारह बज रहा है और वह उन्हीं क़दम घर वापस आ रहे हैं!

प्रेमचन्द की हस्ती की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि वह हर तरफ़ से साधारण थे। इस तरह वह जनता और जन के प्रतिनिधि थे। खास तो हर कोई बनना चाहता है, आम लोगों में मिलकर खुद उन-जैसा रह आना कोई नहीं चाहता। प्रेमचन्द की जैसे वही साधना थी। और इसके लिए मेरे-जैसा आदमी उनका जितना कृतज्ञ हो, थोड़ा ही जान पड़ता है।

[तीन]

प्रेमचन्दजी पहली बार दिल्ली आए शायद सन् १९३१ में। उससे पहले इकट्ठे साथ रहने का मौक़ा हमें नहीं आया था। लखनऊ एक-दो बार मिलना हुआ था या बनारस एक-आध रोज साथ रह लिए थे। अब तक मेरी निगाह में वह लेखक थे। यहाँ जब साथ रहे तो यह ऊपरी रूप कहीं बीच में नहीं रह गया। खाना खाने साथ बैठते और बाद में भी नीम की सींक से दाँत कुरेदते हुए वे मेरे साथ ही बैठकर बात करते रहते। उस वक्त दो बुज़ुर्ग घर में और थे। प्रेमचन्दजी की जगह उनके साथ थी। वे ऊँचे ख्याल के लोग थे और छोटी बातें अक्सर उनके पास नहीं फटक पाती थीं। बातें देश की और दुनिया की होतीं, सुधार की और उद्धार की, या किसी नीति के या तत्त्व के मसले की। मैं उन बातों के बीच अक्सर अजनबी रहता। अव्वल तो वहाँ रहता ही न था, पास हुआ तो बहस सुनता-भर रह जाता था। प्रेमचन्द का भी मैंने यही हाल देखा। बात गहरी हो रही है और वजनदार, लेकिन प्रेमचन्द को सिर्फ़ सुनना है। कहने को उनके पास गोया कुछ है ही नहीं। इससे ज्यादातर वह उन बुज़ुर्गों में शामिल न होते और हम दो अलग-थलग बैठे गपशप किया करते। कोई अनजान उन दिनों घर पहुँचता तो किसी तरह मालूम न कर सकता था कि प्रेमचन्द कौन हैं। उनका लिबास और उठने-बैठने, रहने-सहने, का तरीका इस क़दर घरेलू था कि कोई उन्हें अलग से पहचान ही न सकता था।

से पूछने लगे—

"क्यों भई, वह बुखारी थे ?"

"हाँ।"

"बुखारी ! पतरस !!"

"नहीं।"

"तो फिर कौन थे ?"

मैंने कहा, "आप तो इस क़दर तड़प के उनके साथ हमागोश हुए और अब पूछते हैं !"

"मैंने समझा, बुखारी होंगे। लेकिन···" कहते-कहते वह रुके।

मैंने हँसकर कहा, "लेकिन क्या ?"

बोले, "कोई अजब हजरत थे ! देखो न, ऐसे बढ़े चले आए कि मैं उनका लँगोटिया हूँ !"

मैंने कहा, "आपने उन्हीं से पूछा क्यों नहीं ?"

बोले, "क्या कहते भलेमानस से ! पर जी में तो आया कि–"

इस तरह मौक़े को प्रेमचन्द हमेशा निभा लेते थे। लेकिन दिमाग उनका इस किस्म की हर ग़फ़लत को बारीकी से रजिस्टर करता रहता था। पर सिफ़त यह कि उसमें फँसते न थे। मानापमान अपना नहीं मानते थे और इस तरह की घड़ियाँ उनमें कोई रंजिश या तपिश नहीं पैदा कर पाती थी। सिर्फ़ उनकी याद के खाने में दर्ज होकर रह जाती थीं।

द्रष्टा और भोक्ता की यह भिन्नता थोड़ी-बहुत तो सबके लिए जरूरी है। नहीं तो हम सदा शिकार बने रहें और खुद अपने तईं जी न पाएँ। हर चीज को मन में बसा लें और उस पर कुढ़ते रहें तो घायल की-सी हमारी हालत रहे और ज़िन्दगी हमें रस न दे पाए। लेकिन यह भिन्नता अक्सर काफ़ी हम में नहीं हो पाती। प्रेमचन्द में वह पर्याप्त मात्रा में थी। दिमाग़ उनका चौकन्ना रहता था और दिल भीतर सुरक्षित। सुरक्षित से मतलब निष्क्रिय नहीं। बल्कि सहानुभूति उनमें हर समय जगी रहती थी। पर दिमाग़ बीच

में जवाब देकर झट हर चीज को शिकायत के तौर पर नीचे उतार भेजे, यह इजाजत वह दिमाग़ को न देते थे। इस तरह दुनिया में रहते भी उससे किसी क़दर अलग-थलग रहे जाना उन्हें उतना मुश्किल न था। कहावत है : 'जल में कमल के समान'। यह योगी के लिए कहा जाता है। योगी का तो मुझे पता नहीं, पर प्रेमचन्द के साथ बहुत-कुछ मैंने घटता हुआ यह देखा है। यहाँ दिल्ली में हिन्दी के साहित्य-सम्मेलन का जल्सा हुआ। बड़े-बड़े दिग्गज पधारे। प्रेमचन्द भी आए। यह अनहोनी बात थी, पर सच यह है कि असल सम्मेलन के लिए वह आए न थे। मैंने लिखा था, इससे बात रखने को आगए थे। ख़ैर, आ गए और जहाँ जिस ढब से ठहरा दिया गया ठहर गए। यानी पचासेक खाटों की लम्बी क़तार के बीच एक उन्हें भी मयस्सर हुई। ख़ासे रिफ्यूजी अस्पताल का-सा दृश्य था। अब रह रहे है तो रह रहे हैं। यहाँ कौन किसको शकल से पहचानने को बैठा है। आख़िर नहाए-धोए और जहाँ मालूम हुआ कि खाने-पीने का इन्तजाम है, उधर बढ़कर गए तो वालंटियर ने कहा, "टिकट!"

पर प्रेमचन्द के पास टिकट न था। उन्होंने पूछा, "कहाँ से मिलता है, भई टिकट?"

"पैसे से लेना हो तो उस खिड़की से मिलता है। वैसे दफ़्तर से।"

प्रेमचन्द खिड़की से टिकट ले आए और क्यू में खड़े हो गए।

ठीक ऐसे ही वक़्त मेरा उधर पहुँचना हुआ और उन पर निगाह गई। मैंने कहा, "हजरत, यह क्या?"

बोले, "क्यू में खड़े हैं टिकट लेकर।"

मैंने उनको बाँह पकड़ कर बाहर खींचा कि जरा तो रहम कीजिए।

वह बोले, "क्यों-क्यों?"

गोया वह इसी लायक हैं कि अयाश ममर्ज आयें और टिकट-

पूर्वक खाना पायें। इसमें कहीं तनिक भी जैसे अयुक्त बात न हो!

इस कथा के तीनों दृश्य जब चाहूँ मैं आँखों के सामने ले लेता हूँ और याद करता हूँ कि प्रेमचन्द क्या खूब आदमी थे!

[चार]

प्रेमचन्दजी पर इतना लिखा गया है कि नया कुछ पाना और कहना मुश्किल है। लोगों ने किताबें लिखी हैं और प्रेमचन्दजी के बारे में भरसक ज्यादा-से-ज्यादा बातें मालूम करने की कोशिश की है। शोध और भी आगे होगी और वह जल्दी खत्म नहीं हो सकेगी। पर इस तरह बाहर से तरह-तरह की बहुत-सी बातों को जोड़कर वह व्यक्तित्व प्रत्यक्ष हो सकेगा जो प्रेमचन्द था, इसमें संदेह ही है।

बात यह है कि हम वह बनाते हैं जो चाहते है। वही हमारा बनाया हुआ आदमी अपने बने हुए रूप में जीवित रखा जाता है। एक तरह यह अच्छा है। लेकिन अच्छाई खत्म हो जाती है जब उस टुकड़े-टुकड़े जोड़े हुए चित्र को हम बेहद यथार्थ कह कर पेश करना चाहते हैं।

हमारी कृतज्ञता स्मरणीय व्यक्ति को तरह-तरह की महिमा से मण्डित करे तो अचरज नही है; यहाँ तक कि व्यक्तित्व घट जाए और उठाया आडम्बर ऊपर दीखने को रह जाए। निश्चय समाप्त होने पर व्यक्ति की उपयोगिता बढ़ती जाती है। वह स्वयं नही कह सकता, इससे सब-कुछ उनके नाम पर कहा जा सकता है। प्रतिष्ठित व्यक्ति, ऐसा जो बोल नही सकता, हमारी अपनी मत-मान्यताओं के लिए अच्छा आश्रय बन सकता है। हम जीवित लोग अपने स्वर्गीय महानुभावों को इस काम में लाएँ तो यह कुछ अन-होना न होगा। पर इसका श्रेय हम अपनी आसक्तियों को देते रहे तो ज़्यादा अच्छा है।

सन् '२९ में मेरा उनसे प्रत्यक्ष परिचय हुआ। सन् '३६ में

उनका देहान्त हो गया। यह सात वर्ष का काल बहुत बड़ा नहीं कहा जा सकता। फिर जबकि दोनों के स्थानों में सैंकड़ों मील का अन्तर हो। लेकिन यह कहना ग़लत न होगा कि इस बीच वह परिचय गाढ़ा होता गया और उसमें इतनी हार्दिकता रही कि कभी तो वह अभिन्नता-जैसी लग आई। भिन्नता थी और हर तरह का अन्तर था, लेकिन अभिन्नता की भूमि दूसरी है और ऊपरी बातें उसके लिए असंगत होकर अलग ही छूट जाती हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ कि हमें असहमत न होने, या सहमत होने, की आवश्यकता जान पड़ी हो। कभी नहीं हुआ कि साहित्य की चर्चा या उसके तत्त्वों का प्रतिपादन बीच में आवश्यक हुआ हो। मति और सम्मति सदा उनके निकट ऐसी चीज रही जो सबकी अपनी-अपनी हो सकती है और होनी चाहिए। कभी उन्होंने अपनी सम्मति थोपी नहीं। न कभी उसका प्रकाश करने में उन्होंने मुलाहिज़ा बरता। यह बात ही थी जो मुझे प्रेमचन्दजी के इतने निकट तक ले गई। वह जैसे अपेक्षा में किसी को न लेते थे। एकाएक को स्वयं रहने देने के लिए तैयार और उसको उसी के अपने रूप में समग्र भाव से स्वीकार करने को तत्पर थे।

साहित्य में उनका जीवन था। उस क्षेत्र में गुटबन्दियाँ थीं और वहाँ राज्य पाने को कोई न हो फिर भी राजनीति चलती थी। पर प्रेमचन्द को मैंने कभी अखाड़े का आदमी न पाया। उनकी जैसे अलग राह थी और लिखने के नाते चाहे वह लेखक और साहित्य-कार हों, जीने के नाते वह सिर्फ़ इन्सान थे। उससे विशिष्ट न अधिकार जानते थे, न दावा करते थे।

किसी खास साहित्यिक बिरादरी का सदस्य मैंने उन्हें कभी न पाया। इसलिए जब देखा उन्हें निवृत्त देखा, जैसे उनके कन्धों पर कोई बोझ न हो। उपन्यास-सम्राट् कहलाते थे, पर चेहरे में, चाल में या कहीं आसपास उस साम्राज्य का चिह्न न था। मुझे कभी यह अटपटा भी लगता था कि लीजिए चल रहे हैं और आप लपक-

कर पानवाले के आगे जा खड़े हुए और एक बीड़ा मुंह में और एक हाथ में दबाए उसी तपाक से वापस चले आए और बोले—"लो यार, हटाओ, पान खाओ।" वह सम्राट् थे और मैं किसी तरह उनका यार न था, क्योंकि कोई चौथाई सदी उनसे छोटा था। पर यह अदना-सी बात उन्हें भूल जाती थी। इसकी वजह से जिन्दगी की वह कामयाबी उन्हें हाथ न आई जो उनकी हो सकती थी। रुतबा नहीं मिला, ओहदा नहीं मिला। इनाम भी जो खासी तादाद में इधर-उधर बँटा किए, उनके पल्ले न आए।

तंगी ने आखिर तक साथ न छोड़ा और समाज में मध्य स्तर से कभी वह अपना सिर ऊँचा न उठा पाए। और यह बहुत मुश्किल काम न था। हर किसी से न मिलते, समझ-बूझकर दोस्त बनाते, नफ़े पर निगाह रखते, हमदर्दी को बखेरते नहीं—मानो अन्दर बंद और बाँधे रखते—तो यों बहुत-कुछ हो सकता था। तरक्की भी हो सकती थी और ऊँचे भी जा सकते थे। पर जैसे आँख खोलकर उन्होंने यह सौदा न किया। उनसे यह सौदा असल में हो नहीं सका। वह कर नहीं सकते थे। तब जरूरी न होता कि इतनी किताबें लिखते। एक-दो लिखकर भी उससे ज्यादा यश और मान पा सकते थे। पर कहिए कि श्रम उनके स्वभाव में था। श्रम से शुरू किया और अन्त तक श्रम करना न छोड़ा। जैसे अपने लिए श्रमिक श्रेणी उन्होंने चुन ली। यों व्यवसाय में हाथ दिया, पर पर-धर्म में मुक्ति कहाँ! इसलिए जो कमाया श्रम से कमा पाया। श्रम की कमाई कितनी होती है? प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी का वास व्यापार में है। पर प्रेमचन्दजी ने व्यापार में सरस्वती को पूजा, अतः श्रम की कमाई ही उन्हें पहुँच और पच सकी।

मुझे प्रसन्नता है कि लेखक सब उन-जैसे नहीं होते। कुछ लिखना जानते हैं, पर उससे ज्यादा बेचना जानते हैं। और सिर्फ लिखे को नहीं बेचते, और भी चीजों को बेचना और उनके खासे दाम खड़े कर लेना उन्हें आता है। प्रेमचन्द उससे कोरे रहे और

सच पूछिए तो इस निपट अनाड़ीपन के लिए मुझे उनमें श्रद्धा होती है, और जितना सोचता हूँ, बढ़ती ही जाती है।

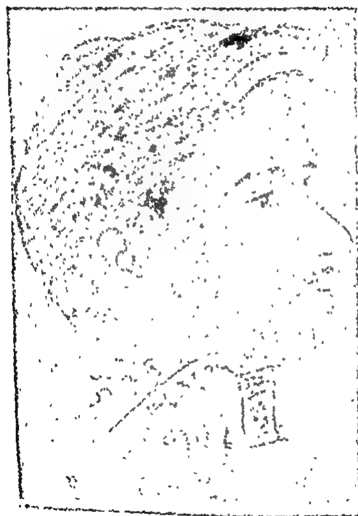
उनके साहित्य में भी इसका समर्थन देखा जा सकता है। सफल और सम्पन्न को उन्होंने ऊँचा नहीं चढ़ाया है। यहाँ तक कि कहा जा सकता है कि कुछ गिराया ही है। मैं धन को उतना बुरा नहीं समझ पाता। लेकिन प्रेमचन्दजी ने तो खुले शब्दों में मुझसे कहा कि 'धन की दुश्मनी' साहित्य-रचना में उनकी मुख्य प्रेरणा रही है। धन की जहाँ कमी है वहीं उन्हें सहृदयता दीखी है। धन हो जाने पर उसकी जगह विलास ले लेता है। तब आदमी को अपनी सूझती है, दूसरे की परवा नहीं रहती। ये जो सभ्य-सुसंस्कृत लोग अच्छी और भलाई की बात करते हैं, धर्म और आदर्श की, उसके मूल में उनकी खुदी छिपी रहती है। उनके अहंभाव को सेक मिलता रहे तो वे शिष्ट और आदर्श पुरुष बन जाते हैं। लेकिन ऊपर की सतह अगर जरा खुरच खा गई और उन पर तनिक दबाव पड़ गया तो उनका हिंस्र और बीभत्स रूप सामने आ जाता है। इस अपने दर्शन में प्रेमचन्दजी अन्त तक नहीं डिगे, यद्यपि उनका लिखना विकास पाता गया। 'सप्तसरोज' और 'प्रेमाश्रम' से 'गोदान' में काफ़ी अन्तर है। पहली पुस्तकों में समाधान है और जो आदर्श-बद्ध है। 'गोदान' जीवन की भाँति खुला है और अनिर्दिष्ट-सा प्रतीत होता है। मानो उपदेश और उपचार का उत्साह आगे जाकर उनमें प्रकृत मानव-सहानुभूति के विस्तार में खो जाता है। पहले अगर वह बताने चले थे तो पीछे आकर मानो पाने और समझने के लिए आगे बढ़ना चाहते हैं। यह अन्तर छोटा अन्तर नहीं है। उससे भी पहले या तो वह अनुरंजक थे या क्रान्तिकारी सुधारक। पर इस सारे विकास में कहीं उनसे यह एक चीज—'धन की दुश्मनी'—नहीं छूटी है।

मेरा मानने को जी होता है कि जिस तरह वह बढ़ रहे थे उस हिसाब से दस साल उन्हें और रचना का अवकाश मिलता तो

यह दुश्मनी उनसे छूट जाती। 'धन की दुश्मनी' कुछ धनिक की दुश्मनी भी हो जाती है। जान पड़ता है कि धनिक की दुश्मनी की उनके अन्दर कुछ ज़रूरत बाक़ी थी। कारण वह गृहस्थ थे। पैसे पर उन्हें जीना होता था, व्याह पर खर्चना होता था। इसलिए पैसे को सिर्फ़ बहने न देकर उस पर मुट्ठी बाँध रखने की भी उनके लिए आवश्यकता थी। बैंक में 'फिक्स्ड डिपॉजिट' था, बीमे की 'पालिसीज' थीं। इस तरह वह धन की दुश्मनी बाहर की प्रतिक्रिया के स्वरूप नहीं अपना ली गई थी, बल्कि आत्मालोचन और आत्मनिरीक्षण में से प्राप्त की गई थी। इसलिए वह दुश्मनी सर्वथा सहानुभूति से हीन या रिक्त नहीं है। फिर भी है वह दुश्मनी और मैं उसे साहित्यकार प्रेमचन्द का भूषण नहीं मान पाता हूँ। वह यदि अनुकम्पा में घुल जाती तो हो सकता था कि वह दुनिया के महान् लेखकों की पंक्ति में न आ पाते। पर अनुकम्पा में वह घुल इसलिए न सकी कि स्वयं में वह उस अवस्था से उत्तीर्ण न हो सके थे।

प्रगतिवाद यहीं उनसे प्रश्रय पा गया है। उलट-कामों के भीतर रहने वाली प्रगति कड़वी होने में विश्वास रखती थी। प्रेमचन्द स्वभाव में कड़वे न थे। अन्त की ओर, और कह सकता हूँ अन्त तक, वह कड़वे नहीं बने। फिर भी कड़वाहट को उनका दिमाग इसलिए अपनाने को तैयार हो जाता था कि उनमें अन्तर-विरोध था और अपनी मजबूरी परिस्थितियों पर डालकर वह दिमाग़ को समझा लेते थे।

मेरा विश्वास है कि प्रेमचन्द आदर्श को कभी नहीं छोड़ सके। यही कारण है कि अपने लेखन में अन्त तक वह असफल नहीं हो पाए। यथार्थ के साथ जीवन में उन्होंने जितना भी चाहे समझौता किया, लिखने में आदर्श की टेक को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। 'प्रगति' यथार्थ को लेने में स्वयं गिरी तो गिरी, प्रेमचन्द प्रगति-सम्मेलन के कर्णधार बनाए जाकर भी अपनी जगह से नीचे न लाए जा सके। यानी यथार्थ को ज्यों-का-त्यों समर्थन उनसे कभी न मिल



श्री जैनेन्द्र कुमार, चित्रकार ओयामा

सका। कोई दल उनके निकट सचाई का अलम-बरदार होकर नहीं जम सका। उन्होंने हर एक को व्यक्ति-रूप में देखा और परखा, और किसी साम्प्रदायिक बिल्ले को अवसर नहीं दिया कि वह व्यक्ति को ओट दे सके।

प्रेमचन्द की यह निपट व्यक्तिमत्ता उनके सारे जीवन पर गुनी लिखी है। यही उस व्यक्ति की महानता है कि इसमें चाहे वह अकेला हो गया, लेकिन सदा बेलौस रहा। जहाँ मैंने देखा, उन्हें अपनी सचाई और ईमानदारी में मलग देखा, पाँत में बँधा खड़ा कभी नहीं देखा। क्या लखनऊ के प्रगतिशील सम्मेलन में, क्या दिल्ली के साहित्य-सम्मेलन में, क्या नागपुर की भारतीय साहित्य-परिषद् में—सब जगह वही नितांत ईमानदार—अकेले, स्वयं अपना अवलम्ब बनकर रहनेवाले, पुरुष के रूप में वह दिखाई दिए। एक मित्र ने उनकी इस निरीहता का हाल बनारस से आकर सुनाया। बोले—मैं सीधा स्टेशन से सामान के साथ प्रेस में पहुँच गया। प्रेमचन्द झट मेरे साथ हुए कि चलिए, घर चलेंगे। रास्ते में हमने कहा कि इस सामान को ज़रा यहीं रख दें और शहर में लगे हाथ एक-आध काम निपटाते चलें। प्रेमचन्द ने कहा, 'ठीक'; और वह जगह ढूँढ़ने लगे कि जहाँ कुछ देर के लिए सामान हिफ़ाज़त से रह जाए। इक्का सामान से लदा पाँच-सात-दस मिनट तक यहाँ-से वहाँ घूमता रहा और प्रेमचन्द दूकान-दूकान सामान रखवाने की कोशिश करते रहे। पर सामान रखा सकने की जगह प्रेमचन्द को न मिली। मित्र के साथ उनकी पत्नी थीं और अजब दृश्य वह रहा होगा कि दम्पती इक्के पर बैठे कदम-कदम सरकते हैं और प्रेमचन्द दूकान-दूकान से इस ज़रा-सी बात के लिए इन्कार पा जाते हैं!

मित्र ने अन्त में कहा कि यह हैं साहब, आपके प्रेमचन्द! उन्होंने हँसी में कहा और कुछ इसलिए भी कि मैंने उन्हें प्रेम-[illegible] चन्द के यहाँ ठहरने के लिए कहा था। पर मैं मानता हूँ [illegible] निरीहता कितनी भी दयनीय समझी जाए, पर [illegible]

है जहाँ से वही महानता के रूप में देखी जा सकती है। यानी संसार में, इस स्वार्थ की धरती पर, उनके पंजे गड़े न थे, जमे न थे। कारण, वह उससे कुछ उठी आदर्श की हवा में रह सकना अपने लिए संभव बना पाए थे। मान नहीं है, प्रतिष्ठा नहीं है, बाहर से जो होना चाहिए लगभग उस सबका अभाव है; पर अन्दर आस्था है तो सब है और उसको लिये-लिये प्रेमचन्द स्वस्थ हैं, प्रसन्न हैं और तनिक भी परास्त और क्षुब्ध नहीं हैं।

एक घटना याद आती है। प्रेमचन्द बोले, "जैनेन्द्र, कल जा रहे हो?"

मैंने कहा, "हाँ, कहिए।"

बोले, "न जाओ तो एक बात है। चलो, कल गाँव चलें।"

मैंने कहा—"ठीक, चलिए।"

अगले रोज इक्का आया जिसका घोड़ा खासा मरियल था। बड़ा-सा लकड़ी का बक्स बीच में रखा गया। ऊपर बिस्तर, उसके इधर प्रेमचन्द बैठे, उधर शिवरानी। अब मैं कहाँ बैठूं?

बोले—"आओ जैनेन्द्र, इधर आ जाओ।" खाक आ जाऊं। चार इंच भी वहाँ कहाँ जगह बची थी! पर जैसे प्यार में पलथी मारकर बैठने की जगह भी बन आती हो!

मैंने कहा—"यह बताइए, कोई साइकिल है?"

बोले—"हाँ, यह ठीक है, तुम साइकिल पर आ जाओ।"

साइकिल ली और हम चले और सारनाथ आए। सामान सड़क पर उतर गया। शिवरानी बक्स पर के बिस्तर पर बैठीं, मैं साइकिल के सहारे खड़ा हुआ और प्रेमचन्द मुस्तैदी से बोले—"अभी आता हूँ, इतने आदमी खेतों पर काम-कर रहे हैं, ले आता हूँ किसी को, खासी मजूरी उसे दी जाएगी।"

गए और जल्दी नहीं आए। बीस-एक मिनट लगाकर लौट सके। देखा कि रोप में हैं कि ये गाँव के लोग इतने जाहिल क्यों होते हैं! बोले, "देखो जैनेन्द्र, धेली-रुपया हाथ लग ही जाता।

गाँव होगा एक मील या बहुत-से-बहुत डेढ़ मील। पर जाहिलों को समझ हो तब न!"

और भी सारगर्भित भाषण समक्ष आया। किन्तु सार वस्तु यह कि मजदूर नहीं हैं। क्या किया जाए?

उस रोज़ सारनाथ पर कुछ मेला-सा था। हम लोग उदर में कुछ संक्षिप्त द्रव्य ही डालकर चले थे। मैंने कहा—"अम्मा (शिवरानीजी) मेला देख आएँ। हम लोग यहाँ ठहरते हैं। वहीं से कुछ टिफन भी हो आएँ। आने पर फिर हम लोग जरा घूम लेंगे। तब तक सामान ले जाने का भी कुछ उपाय निकल आए तो देखिए।

बात पक्की रही। शिवरानीजी गईं। फिर हम लोग गए। यह-वह कुछ पेट में डाला। इसमें डेढ़ या दो घण्टे सरक गए। फिर मजदूर की तलाश हुई जो फिर बेकार हुई और सारांश प्राप्त हुआ कि देहातियों की जहालत दूर होगी तब सामान उठ पाएगा।

ये प्रयत्न शाम तक चले। जहालत इतनी निविड़ थी कि इस स्वल्प समय में कैसे दूर हो सकती थी! खेत की डौल पर बैठकर चिलम पीना छोड़ पैसा कमाना श्रेष्ठतर है, यह उन गँवारों की समझ में न आया। समझाने का कोई यत्न छोड़ा न गया। पर दीख पड़ा कि तीसरा पहर बीत रहा है, शाम आ रही है, मेला छीज रहा है। अभी इक्कों की भीड़ थी और जाने क्या-क्या सवारियाँ थीं। देखते-देखते वे खिसकी जा रही हैं। लोग लद रहे हैं और लौटे जा रहे हैं। धूप बेहद तिरछी हो गई है। ज़रा और कि सूरज डूबा देखिए। सवारियाँ जल्दी में हैं कि सूरज जाए, इससे पहले वे निकल जायँ।

मैंने कहा—"बाबूजी, अब गाँव—!"

बोले—"नहीं जी, आए हैं तो गाँव चलना ही चाहिए। एक मील तो जगह होगी। मैं फिर देखता हूँ।"

अब आलम यह है कि सड़क पर सामान लिये हम बैठे हैं।

धूल से वाले सफेद हो श्राए हैं और जिन पर उम्मीद है वे इक्के एक-एक कर खिसके जा रहे हैं।

श्राए प्रेमचन्द, कहते हुए कि कम्बख्त देहाती क्या देहकानी हैं, इत्यादि-इत्यादि-इत्यादि।

मैंने कहा—"देखिए, शाम हो आई। एकाध बचा है, जाने यह इक्का भी हाथ से कब निकल जाए। कहिए, कर लूं और चलें हम बनारस?"

प्रेमचन्द का मन न था। पर शाम और रात वहीं सड़क पर गुजारने का मन था, यह भी नहीं कहा जा सकता। उपसंहार यह कि इक्का आखिरी रह गया तो उस पर सामान लदा और दो इन्सानी श्रदद लदे और मैंने साइकिल सम्हाली। इक्का चल दिया, पर साइकिल में हवा कम थी और मालूम हुआ पंक्चर है। पर सकट आते हैं तो पार होने के लिए और साहस के साथ उन्हें एक-पर-एक पार करते हुए हम रात दस बजे बीते बेनिया पार्क वाले उनके लाल मकान पर जाकर लगे। तब खिचड़ी चढ़ी जो खाने में बेहद स्वाद मालूम हुई। और इस प्रकार सानन्द प्रेमचन्द के जन्म के ग्राम के अभियान का प्रकरण-समापन हुआ।

इसको आप क्या कहना चाहते हैं? मैं इसको प्रेमचन्द का व्यक्तित्व कहता हूँ। निरीह, निपट असहाय—लेकिन स्पष्ट, सरल और अत्यन्त मानवीय!

प्रेमचन्द की कला

[दो]

श्री प्रेमचन्दजी का ताजा उपन्यास 'ग़बन' हाल में ही निकला है। निकला तभी मैंने उसे पढ़ लिया। लेकिन जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज को समझने और पुस्तक के असर को ठंडा होने देने के लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। तटस्थ होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तक से अपने को अलहदा खड़ा करके मानो उस पर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े लेखक हैं। हम हिन्दी भाषा-भाषी उनके मूल्य को ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्र के इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है, उसमें निवास करती हुई और उस चित्र को सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़ में नहीं आती। जो एक-दो दशाब्दी अथवा एकाध भाषा का अन्तर बीच में डाल कर प्रेमचन्द को देखेंगे वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्द को अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में और हिन्दी को छोड़कर जहाँ अनुवादों द्वारा अन्य भाषाओं में पहुँचेंगे वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन यत्न द्वारा हम अपनी दृष्टि में कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पास की चीज को मानो इतनी दूर से देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णता में, अपनी एकता में, दीखे। अगर रचनाओं के भीतर पैठकर, मानों उन्हें नसैनी बनाकर, हम रचनाकार के हृदय में पहुँच जायें जहाँ से कि उसकी रचनाओं का उद्गम है और जहाँ उसे एकता प्राप्त होती है तो हम रस में डूब जायें।

अपने भीतर के स्नेह और सहानुभूति को विविध कौशल से

प्रेमचन्द की कला

[दो]

श्री प्रेमचन्दजी का ताजा उपन्यास 'ग़बन' हाल में ही निकला है। निकला तभी मैंने उसे पढ़ लिया। लेकिन जो मुझे वक्तव्य हो सकता है, वह लिखता अब हूँ। चीज को समझने और पुस्तक के असर को ठंडा होने देने के लिए मैंने कुछ समय ले लिया है। तटस्थ होकर बात कहना ठीक होता है,—जब व्यक्ति पुस्तक से अपने को अलहदा खड़ा करके मानो उस पर सर्वभक्षी निगाह डाल सके।

प्रेमचन्दजी हिन्दी के सबसे बड़े लेखक हैं। हम हिन्दी भाषा-भाषी उनके मूल्य को ठीक आँक नहीं सकते। हम चित्र के इतने निकट हैं कि उसकी विविधता, उसका रंग-वैषम्य हमें आच्छन्न कर देता है, उसमें निवास करती हुई और उस चित्र को सजीवता प्रदान करती हुई एकता हमारी पकड़ में नहीं आती। जो एक-दो दशाब्दी अथवा एकाध भाषा का अन्तर बीच में डाल कर प्रेमचन्द को देखेंगे वे, मेरा अनुमान है, प्रेमचन्द को अधिक समझेंगे, अधिक सराहेंगे। वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में और हिन्दी को छोड़कर जहाँ अनुवादों द्वारा अन्य भाषाओं में पहुँचेंगे वहाँ उनको विशेष सराहना प्राप्त होगी।

लेकिन यत्न द्वारा हम अपनी दृष्टि में कुछ वैसी क्षमता ला सकते हैं कि बहुत पास की चीज को मानो इतनी दूर से देख सकें कि वह हमें अपनी सम्पूर्णता में, अपनी एकता में, दीखे। अगर रचनाओं के भीतर पैठकर, मानों उन्हें नसैनी बनाकर, हम रचनाकार के हृदय में पहुँच जायँ जहाँ से कि उसकी रचनाओं का उद्गम है और जहाँ उसे एकता प्राप्त होती है तो हम रस में डूब जायँ। अपने भीतर के स्नेह और सहानुभूति को विविध कौशल से

क़लम की राह उतार कर कलाकार ने तुम्हारे सामने ला रखा है। तुम उन शब्दों का, भाषा, प्लाट और प्लाट के पात्रों का मानो सहारा-भर लेकर यदि हृदय में से फूटते हुए झरनों तक पहुँच जा सकते हो तो वहाँ स्नान करके आनन्दित और धन्य हो जाओगे। नहीं तो परीक्षोपयुक्त विद्वान् की तरह उसकी भाषा की खूबी और त्रुटि और उसके व्याकरण की निर्दोषता-सदोषता में फँसे रहकर उसकी छान-बीन का मजा ले सकते हो।

मुझे व्याकरण की चिन्ता पढ़ते समय बहुत नहीं रहती। भाषा की चुस्ती का या शिथिलता का ध्यान उसी के ध्यान की गरज से मैं नहीं रख पाता। भाषा की खूबी या कमी को सम्पूर्ण वस्तु के मर्म के साथ उसका किसी न किसी प्रकार सामजस्य, या वैषम्य बिठा कर मैं देख लेना चाहता हूँ। अतः यह नहीं कि मैं उस ओर नितांत उदासीन या क्षमाशील हो रहता हूँ, किन्तु वहाँ समाप्त करके नहीं बैठ रहता।

प्रेमचन्दजी की क़लम की धूम है। बेशक वह धूम के लायक़ है। उनकी चुस्त भाषा पर, उनके सुजड़ित वाक्यों पर, मै किसी से कम मुग्ध नहीं हूँ। बात को ऐसा सुलझा कर कहने की आदत, मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझाकर थोड़े से शब्दों में भर कर, कुछ इस तरह से कह जाते है, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिए नित्यप्रति घरेलू व्यवहार की जानी-पहचानी चीज हो। इस तरह जगह-जगह उनकी रचनाओं में ऐसे वाक्यांश बिखरे पड़े है जिन्हें जी चाहता है कि आदमी कण्ठस्थ कर ले। उनमें ऐसा कुछ अनुभव का मर्म भरा रहता है।

प्रेमचन्दजी तत्त्व की उलझन खोलने का काम भी करते हैं, और वह खुली सफाई और सहजपन के साथ। उनकी भाषा का क्षेत्र व्यापक है। उनकी क़लम सब जगह पहुँचती है, लेकिन अँधेरे में भी वह धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग

बनाती चली जाती है। सुदर्शनजी और कौशिकजी की भी क़लम बड़े मजे-मज़े में चलती हैं, लेकिन जैसे वह सड़कों पर चलती है, उलझनों से भरे विश्लेषण के जंगल में भी उसी तरह सफाई से अपना रास्ता काटती हुई चली चलेगी, इसका मुझे परिचय नहीं है।

स्पष्टता के मैदान में प्रेमचन्द सहज अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है। अपने पात्रों को भी सुस्पष्ट, चारों ओर से सम्पूर्ण बनाकर वह सामने लाते हैं। उनकी पूरी मूर्ति सामने आ जाती है। अपने पात्रो की भावनाओं के उत्थान-पतन, घात-प्रतिघात का पूरा-पूरा नक़्शा वह पाठक के सामने रख देते हैं। तद्गत कारण, परिणाम, उसका औचित्य, उसकी अनिवार्यता आदि के सम्बन्ध में पाठक के हृदय में संशय की गुंजाइश नहीं रह जाती। इसलिए कोई वस्तु उनकी रचना में ऐसी नहीं आती जिसे अलौकिक कहने को जी चाहे, जिस पर विस्मय हो, झुँझलाहट हो, बलात् श्रद्धा हो। सबका परिपाक इस तरह क्रमिक होता है, ऐसा लगता है, कि मानो बिल्कुल अवश्यभावी है। अपने पाठक के साथ मानो वे अपने भेद को बाँटते चलते हैं। अंग्रेज़ी में यों कहेंगे कि वह पाठक को कॉन्फ़ीडेंस में, विश्वास में ले लेते हैं। अमुक पात्र क्यों अब ऐसी अवस्था में है, पाठक को इस बारे में असमंजस में नहीं रहने दिया जाता, सब-कुछ उसे खोल-खोल कर बतला दिया जाता है। इस तरह पाठक सुगम रूप में पुस्तक की कहानी के साथ आगे बढ़ता जाता है, इसमें उसे अपनी ओर से बुद्धि-प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती, पात्रों के साथ मानो उसकी सहज जान-पहचान रहती है। इसलिए पुस्तक में ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ पाठक अनुभव करे कि वह पात्र के साथ नहीं चल रहा है,—और ज़रा रुककर उसके साथ होने का प्रयास करे। वह पुस्तक पढ़ने को ज़रा थाम कर अपने को सँभालने की ज़रूरत में नहीं पड़ता। ऐसा स्थल नहीं आता जहाँ आह् खींच कर वह पुस्तक को

बन्द करके पटक दे और कुछ देर आँसू ढालने या कुछ सोचने में उसे लगाना पड़े और फिर तुरन्त ही फिर पढ़ना शुरू करना पड़े। पाठक बड़ी दिलचस्पी के साथ पुस्तक पढ़ता है और उसके इतने साथ-साथ होकर चलता है कि कभी उसके जी को जोर का आघात नहीं लगता जो बरबस उसे रुला दे।

'ग़बन' में मार्मिक स्थल कम नहीं हैं। पर प्रेमचन्दजी ऐसे विश्वास, ऐसी मैत्री और परिचय के साथ सब कुछ बतलाते हुए पाठक को वहाँ तक ले जाते हैं कि उसे धक्का-सा कुछ भी नहीं लगता। वह सारे रास्ते-भर प्रसन्न होता हुआ चलता है और अपने साथी ग्रन्थकार की जानकारी पर, कुशलता पर और उसके प्रति विश्वास पर जगह-जगह मुग्ध हो जाता है। पग-पग पर उसे पता चलता रहता है कि इस कहानी के स्वर्ग में से उसका हाथ पकड़कर ले जाता हुआ उसका पथदर्शक बड़ा सहृदय और विचक्षण पुरुष है। पाठक बिलकुल उसका होकर रहने को तैयार होता है। वह बहुत सतर्क और उद्बुद्ध होकर नहीं चलता, क्योंकि उसे भरोसा रहता है कि ग्रन्थकार उसे छोड़कर इधर-उधर भाग नहीं जायेगा, उसको साथ लिये चलेगा। इसलिए ग्रन्थकार को भागकर छूने का अभ्यास करके उसके साथ होने और इस प्रकार अपरिचित रास्ते पर झटकों-अचंभों के हिलकोरे खाते, कभी उन पर हँसते और कभी रोते हुए चलने का मजा पाठक को नहीं मिलता और पाठक इस स्वाद को भी चाहता है।

मैं 'ग़बन' पढ़ते हुए कहीं भी रो नहीं पड़ा। रवीन्द्र की एकाध किताब पढते हुए, बंकिम पढ़ते हुए कई बार बरबस आँखों में आँसू फूट आये हैं। फिर भी, प्रेमचन्द की कृतियों से जान पड़ता है कि मैं उनके निकट आ जाता हूँ, उन पर विश्वास करने लगता हूँ। शरत् पढ़ते हुए कई बार गुस्से में मैंने उसकी कृतियों को पटक दिया है और रोते-रोते उसे कोसने को जी किया है। 'कम्बख्त न जाने हमें कितना और तंग करेगा!' इस भाव से फिर उसकी पुस्तक

को उठा कर पढ़ना शुरु कर दिया है। ऐसा मेरे साथ हुआ है। इसके प्रतिकूल प्रेमचन्द की कृतियों से उनके प्रति अनजाने सम्मान और परिचय का भाव उत्पन्न होता है। उससे आगे वाली आत्मीयता नहीं होती।

शरत् और अन्य की रचनाएँ पढ़ते वक्त जान पड़ता है जैसे इनके लेखक हमसे परिचय बनाना नहीं चाहते, हम-तुम की मत-मान्यताओं की इन्हें बिल्कुल पर्वाह नहीं है, हमारे भावों की रक्षा करने की इन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं है। जैसे हमारा जी दुखता है या नहीं दुखता, हम नाराज़ होते हैं या खुश, हमें अच्छा लगता है या बुरा, इसका ख़याल रखने का ज़रा भी जिम्मा उन पर नहीं है। हमारे लिए उनके पास जरा दया नहीं है। वे लेखक निरपेक्ष और निश्चित होकर हमें जी चाहे जितना रुला सकते है। परन्तु प्रेमचन्द हमारे प्रति निरपेक्ष नहीं हो सकते।

शायद इसी निरपेक्षता की आवश्यकता को विचार कर अंग्रेज़ी की उक्ति बन गई थी, 'आर्ट फ़ॉर आर्ट्स सेक', अर्थात् 'कला, कला के लिए।' किन्तु यह वचन मेरी समझ में सत्य को बहुत अधूरे ढंग में प्रकट करता है। या कहे, सत्य को खोल कर प्रकट नहीं करता, उसे मानो बाँधकर बन्द करने की चेष्टा करता है। मुझे कहना हो तो कहूँ, 'आर्ट फ़ॉर गॉड्स सेक', अर्थात् 'कला परमात्मा के लिए।'

रवीन्द्र आदि की कृति में किसी एक स्थल पर उँगली रखकर कहना कठिन है कि 'कैसा अच्छा है!' शरत् की खूबी समझ में नहीं आती कि किस खास जगह है। [illegible] खास करके देखो तो कोई विशेष विस्मयकारी बात नहीं मालूम होगी। पर प्रेमचन्द में से कहीं कोई वाक्य उठा लो, जान पड़ेगा कि मानो स्वयं सम्पूर्ण है, चुस्त, कसा हुआ, अर्थपूर्ण है।

पहले ढंग की किताब को भी [illegible], तभी हम उलटकर देखने लग जायेंगे। चाहे कितनी ही बार पढ़ी हो हमें वह नई-सी लगेगी। प्रेमचन्द की किताब को एक बार पढ़ लेने पर [illegible]

पढ़ने की तबीअत कम शेष रहती है।

मैंने कहा है : आर्ट फॉर गॉड्स सेक, अर्थात् परमात्मा के प्रति, सत्य के प्रति कलाकार का दायित्व है। इसको कलाकार जब समझेगा तो पायेगा कि उसका अपने अंतःस्थ के प्रति दायित्व है। इसलिए वह पाठकवर्ग की धारणाओं की ओर से निश्शंक और निश्चिन्त होकर, अपने प्रति सच्चा रहकर, अपने को प्रकट कर सकता है। एक व्यक्ति, समाज या पुस्तक के पात्र की भावनाओं की रक्षा के निमित्त अत्यन्त आतुर हो उठने का कलाकार को अधिकार नहीं है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त निरंकुश होकर चलना पड़ता है। लगभग जिस प्रकार कि परमात्मा अपने विश्व का संचालन हमारी-तुम्हारी परिमित समझ को देखते हुए, अत्यन्त निरंकुश होकर करते हैं। विश्व को वह जरा-व्याधि, रोग-शोक और जन्म-मृत्यु से भरा बनाये रखते हैं, किसी खास व्यक्ति या समूह की कोई विशेष चिन्ता करते नहीं मालूम होते। इतना होने पर भी मानना होता है वे परम दयालु हैं। उनकी दयालुता किसी विशेष वस्तु या प्राणी के अच्छा लगने न लगने पर निर्भर होकर नहीं रहती। वह इतनी मर्मगत, इतनी व्याप्त और इतनी वृहत् है कि उसका कार्य-परिणमन हम छोटी बुद्धि वालों को निरकुश जँचता है। उसी सबके पिता सिरजनहार के अनुरूप सर्जन का अधिकार रखने वाले कलाकार को रहना पड़ता है। वह रचना में अत्यन्त निर्मम होगा, किसी के प्रति उसमें विशेष ममता-भाव है, ऐसा वह नहीं दिखला सकेगा। विद्वान् पर मौत आयेगी तो उसे स्वीकार लेगा; शठ समृद्धिवान् बनता होगा तो उसे बनने देगा। फिर भी सहानुभूति और प्रेम से उसका हृदय भरा होना ही चाहिए। वह सहानुभूति या स्नेह इतना न हो कि छलकता फिरे।

संसार में प्रकट दीखने वाली निरंकुशता के मार्ग से एक वृहद् सत्य की लीला सम्पन्न हो रही है। हम नहीं जानते, इसलिए रोते-झींकते हैं। हम जिन छोटी-मोटी बातों को सिद्धान्त बनाकर काम

चलाते हैं उनकी ज्यों-की-त्यों रक्षा जब हमें होती नहीं दीखती तब हम दुःखी होते और अस्थिर होते हैं। इस तरह अपने अहं-ज्ञान को बीच में डालकर हम, जिस परमात्मा का विश्वास हमारे लिए सहज होना चाहिए था, उसी को अपने लिए दुष्प्राप्य और दुरधिगम्य बना लेते हैं। सबमें निवास करती हुई उसकी दयालुता हम नहीं देख पाते, इसलिए कहते हैं कि वह है नहीं, है तो दयालु नहीं है, मन-मौजी और लीलामय है। हमारा तर्क यह होता है कि 'हम भले-मानस हैं फिर भी गरीब हैं; इसलिए ईश्वर नहीं है, है तो ठीक नहीं है।' इसी तरह कलाकार की वृत्ति में किसी अन्तरतर सत्य को पाने और सम्पन्न करने की निष्ठा रहती है, दुनिया की बनाई धारणाओं की रक्षा करने की चिन्ता उसे नहीं होती। सदाचार के और अन्य भाँति के अपने नियम-क़ानून बनाकर जीती रहने वाली दुनिया अपनी सब धारणाओं का समर्थन वहाँ पाये ही, ऐसा नहीं होने पाता। ऊपर के तर्क से चलने वाली दुनिया की तुष्टि के लिए और उसके अहं के समर्थन के लिए कलाकार नहीं लिखता। इसी से कहा गया : आर्ट फॉर आर्ट्‌स सेक—अर्थात्, कला का हेतु स्वयं कला है। किंतु इसका ही सम्पूर्ण परिष्कृत रूप है, आर्ट फ़ॉर गॉड्स सेक; और इसका अभिप्राय है कि कला अहंवादी, बुद्धिवादी दुनिया को खुश करने या रखने की खातिर नहीं होती; वह परमेश्वर, अर्थात् सत्य की प्रतिष्ठा, के लिए होती है।

प्रेमचन्दजी में उक्त प्रकार की निरपेक्षता पूरे तौर पर नहीं आई है। वे पाठक की अलग से चिंता करते हुए चलते हैं और अपनी किसी बात से सहसा दुनिया को दर्द या चोट दे रहने के विचार से बचते हैं। उन्होंने कोशिश करके जिसे सुन्दर और शिवरूप समझा है, लोगों की वर्तमान स्थिति को किसी विशेष गड़बड़ में न डालने की चिन्ता रखते हुए, वह उसी को लिखते हैं। उनमें पात्र अशरीरी नहीं होते, सूक्ष्म-शरीरी भी नहीं होते, वे अतर्क्य नहीं हो पाते। वे जो कुछ भी होते हैं, सामान्य साधारण बुद्धि के मार्ग से

ही होते हैं। असाधारणता उनमें यदि प्रेमचन्द कहीं कुछ रखते भी हैं तो मानो साधारणता के मार्ग से ही उसे प्राप्त और गम्य बना लेते हैं। पाठक के मन में प्रेमचन्दजी के पात्रों से एक प्रकार का संतोष होता है; कोई गहरी बेचैनी नहीं जाग उठती। कोई गहरा खिंचाव जो मित्रता से आगे हो, एक गंभीर तृप्ति जो संतोष से गहरी हो, नहीं होती। प्रेमचन्दजी पाठक का मन रख लेते है, अपना ही मन पाठक के सामने रख दें, यह नहीं करते।

मैं फिर भी प्रेमचन्दजी को हिन्दी का नहीं, संसार का लेखक मानता हूँ। बहुत जल्दी संसार भी यह मान लेगा, चाहे फिर अपने शीर्ष पर न भी ले।

सामयिकता को लाँघ कर, मानो सामयिकता का आधार थाम गहरे उतर कर, जो कृति जितनी ही सत्य के अनुरूप होकर चलती है, वह उतने ही अंश में सर्वकालीन और सर्वदेशीय होती है। वह उतने ही अंश में अनायास काल को चुनौती देती हुई चिरजीवी और देश और भाषा की परिधियों को पीछे छोड़ती हुई विश्वव्यापी हो जाती है।

सत् है एक, अर्थात् सत्य है ऐक्य। संपूर्ण सत्ता को सचेतन एकमय देखो, वही है परमात्मा। इस सनातन ऐक्य को पाने की चेष्टा का नाम है : प्रेम। पर वह प्रेम सहज सम्पन्न नहीं होता। यह जो चारों ओर लुभाती हुई, भरमाती हुई, भिन्नता फैली है,—उस सब लोभ और भ्रम और माया के समुद्र में आँख-कान मूँद-कर गहरी डुबकी लगा कर पैठने से वह प्रेम कुछ-कुछ दिखाई पड़ सकता है। इसके लिए गहरी साधना की आवश्यकता है। परन्तु इस ऐक्य को पाने की भूख भी प्राणी में कम गहरी नहीं है। पर बहुत-कुछ उसकी तृप्ति में आड़े आता है और वह भूख बहुत तरफ़ से परिमित, संकुचित रहती है। और तो क्या, यह शरीर ही रुका-वट बनकर सामना करता है। यह हमको सबसे एकाकार तो होने दे सकता ही नहीं। फिर भी, इसकी सहायता से भी, हम आगे

बढ़ते हैं। स्त्री, माँ, भाई, बहिन, पिता आदि नातों द्वारा, जो इस शरीर के कारण बन जाते हैं, हम अपने प्रेम का विस्तार साधते हैं। वह प्रेम नाना स्थानों पर नाना रूपों में प्रकट होता है। वह प्रेम तत्काल को पारकर जितना चिरस्थायी और शरीर के प्रतिबन्ध को लाँघकर जितना अखिलव्यापी और सूक्ष्मजीवी होता है, और इस कारण तात्क्षणिक स्थूल तृप्ति में न जीकर वह जितना उत्सर्ग-जीवी होता है, उतना ही वह सत्य के अनुरूप अर्थात् स्वस्थ, गंभीर और आनन्दमय होता है। लेकिन काल और प्रदेश की रेखाओं से आकार पाकर ही तो जीव की जीवन-यात्रा चलती है, इसलिए उसका प्रेम सर्वथा निर्विकार सत्यानुरूपी नहीं हो पाता। इस तरह व्यक्ति के जीवन में सदा ही द्वन्द्व चलता है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो कलुषित—कुत्सित प्रेम कुछ नहीं होता। विस्तृत ऐक्य के जिस तल तक मनुष्य उठ आया है उस तल से नीचे की चेष्टाएँ जब किसी में देखता है तो उसे कुत्सित आदि कहने लगता है।

तो, नानारूपिणी माया जब व्यक्ति को अन्य सबके प्रति एक प्रकार के विरोध से उकसा कर उसे अहं-भाव में रूढ़ रखने का आयोजन करती है, तब उसके भीतर का गूढ़ सच्चिदानन्द इस आयोजन को तोड़-फोड़कर स्वयं प्रतिष्ठित होने को सतत उत्सुक रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और उपन्यास का मूल है। यही साहित्य का क्षेत्र है।

प्रेमचन्दजी इस द्वन्द्वावस्था को सूक्ष्म नहीं तो सरल दृष्टि और सहानुभूति के साथ चित्रित करते हैं। फिर इस द्वन्द्व में वह जिस निर्मल प्रेमभाव की प्रतिष्ठा करते है, वह देहातीत होता है—वह बीतते हुए क्षण के साथ मिटता नहीं। वह सेवामय प्रेम दुनिया-दारी की, ग़लतफ़हमियों की, अज्ञानता की, विफलता की, हीनता की कितनी ही कठिनाइयों के साथ लड़ता-झगड़ता हुआ भी अक्षुण्ण और उत्सर्ग-तत्पर रहता और रह सकता है। इस आत्मयुद्ध, धर्म-

युद्ध, का चित्र प्रेमचन्दजी सजीव बना पाते हैं। वही सजीव प्रेम, अर्थात् सत्य, जो स्वयं टिकाऊ है, उनकी कृति को भी चलते समय के साथ मरने नहीं देगा। मैं कहता हूँ कि प्रेमचन्दजी ने अपनी कृति में जो चिरस्थायी और व्यथाशील प्रेम का बीज रख दिया है, वह निरा सामयिक नहीं है, उसमें स्थायित्व है।

सामयिकता से प्राण खींचकर कइयों ने रचनाएँ की है जो रंगीन होकर सामने आ गई हैं। पर अगर आज वह हाथों-हाथ बिकती हैं तो हमने देखा है कल वे मर भी जाती हैं। जो रचना शाश्वत सत्य के श्वास से जितनी अनुप्राणित होगी, वह उतनी ही शाश्वत और अमर होगी। माया में से रस खींचकर, देश और काल के प्रतिक्षण और प्रतिपग बदलते जाते हुए मतों और वासनाओं को आधार बनाकर, सामयिकता की लहर पर नाचती हुई जो कृति हमें लुभाने आती है, वह आज हमें लुभा ले सही, पर कल हमें ही उसकी याद भूल जायगी, इसका हम विश्वास रखें।

प्रेमचन्दजी की कृति सामयिकता की परिधि को लाँघकर और हिन्दी भाषा की परिधि को लाँघकर किसी न किसी हद तक अनागत व्याप्ति की ओर बढ़ेगी, निस्संदेह उसमें ऐसा बीज है।



चिट्ठी-पत्री

[एक]

पहाड़ी धीरज, दिल्ली
२० फरवरी, १९३०

बाबूजी,

आपका पत्र मिला। वह कूचा पातीराम वाला भी बस एक डिलीवरी-देर से मुझे मिल गया। कहानी मैंने १४ को शुरू की थी, पर ख़तम अब भी नहीं हुई। शुरू करने के बाद ही मैं तो उलझन में पड़ गया। इधर आपके उलाहने के बाद भी देर लगाना पाप जान पड़ा। ये दो कहानियाँ भेज रहा हूँ। नाथूरामजी प्रेमी (बम्बई) से वापस मँगा ली है। 'दिल्ली में' आपके लिए और 'फोटोग्राफी' 'माधुरी' के लिए। इसी से अभी तो संतोष मान लें, ऐसी प्रार्थना है। इच्छा तो थी, कोई अपूर्व चीज भेजूं; पर इच्छा पूरी न हुई। ख़ैर, आगे देखूंगा। यह भी, अगरचे पूरे मन की नहीं है फिर भी, उम्मीद है बुरी नहीं है। अंतिम (वाला) पैराग्राफ़ यदि आप सहमत हों तो काट दीजिए। बिल्कुल व्यर्थ है। वास्तव में जोड़ा भी बाद में गया है। आप यदि ख़ास तौर पर उसे रखना चाहें तो बात दूसरी, नहीं तो उड़ा ही दें। उसमें ऐसा लगता है जैसे लेखक जल-भुन रहा है। लेखक की यह 'मैंण्टेलिटी' हठात् क्यों प्रकट हो?

'फोटोग्राफी' मेरी पहली कहानी है। तो भी 'माधुरी' के लिए काफ़ी से ज्यादा ही अच्छी है, ऐसा विश्वास है। न भी पसंद आये तो खेद न होगा।

'मेरी मेग्डलीन' की आपने सिफ़ारिश ही की। मुझे भी ऐसी ही आशा थी। निर्णय का कब तक पता चलेगा?

क्या आप सम्मेलन में आयेंगे ? और क्या मुझे वहाँ जाने की सलाह देंगे ? परिचय का लाभ ही यदि लाभ समझा जाय तो बात दूसरी, नहीं तो सम्मेलन में मेरे लिए क्या है ? उन (सम्मेलनी) लोगों में से किसी के दर्शन की उत्कट चाह हो, सो भी बात नहीं है। सलाह दें।

आपका उपन्यास कैसा चल रहा है ? मुझे भी बहुत और बराबर लिखने का मन्तर बताइए न ! जब से आया हूँ, क्या कहूँ, एक कहानी भी न की। शुरू ही न हुई—तबीअत नहीं हाजिर हुई। कोई इलाज अवश्य बताइए।

विशेष मेरे योग्य सेवा लिखिए।

आपका ही
जैनेन्द्र

[२]

सरस्वती प्रेस
२५ नवम्बर, १६३०

प्रिय मित्रवर,

वन्दे। पत्र मिला। सच्चा आनन्द हुआ। 'परख' मैंने पढ़ लिया था और पढ़कर मुग्ध हो गया था। इसकी आलोचना दिसंबर के 'हंस' में कर रहा हूँ जो विशेषांक होगा। 'परख' के चारों चित्र—सत्य, कट्टो, बिहारी और गरिमा—खूब हुए है। सत्य का गंभीर, मानसिक संग्राम। बिहारी का उससे भी पवित्र किन्तु सरल और विनोदमय लगा। कट्टो तो देवी है। आपकी शैली और चरित्र-प्रदर्शन का ढंग मुझे बहुत पसंद आया। मैंने सरस्वती वाली आलोचना नहीं देखी, लेकिन आपके उपन्यास की तारीफ़ तो उन्हें करना ही चाहिए थी। मैं ऐसी रचना पर आपको बधाई देता हूँ।

अन्य प्रकाशकों की स्थिति इस समय अच्छी नहीं है। मौलिक उपन्यास तो कई अच्छे निकले है। प्रसादजी का 'कंकाल', 'उग्र'



सर्वश्री प्रेमचन्द, ऋषभचरण जैन, जैनेन्द्र कुमार, सन् १९३३

जी का 'शराबी', वृंदावनलाल वर्मा का 'गढ़कुंडार'। 'गढ़कुंडार' तो रोमांस है पर 'कंकाल' बहुत ही सुन्दर है। लेकिन मौलिक उप-उपन्यासों को छोड़कर अनुवादों का बाजार ठंडा पड़ा है। 'मंगलसूत्र' खुद अपने प्रेस में छपवाने का इरादा कर रहा हूँ। आजकल मेरा 'ग़बन' छप रहा है, वह निकल जाय तो इसे शुरू करूँ।

'हंस' के छः अंक निकल चुके। सितंबर और अक्टूबर में प्रेस और पत्रिका जमानत माँगे जाने के कारण बन्द पड़े रहे। प्रेस वे आर्डीनेंस उठ जाने पर फिर निकले हैं।

मेरी पत्नीजी पिकेटिंग के जुर्म में दो महीने की सजा पा गईं। कल फ़ैसला हुआ है। इधर पन्द्रह दिन से इसी में परेशान रहा। मैं जाने का इरादा ही कर रहा था, पर उन्होंने खुद जाकर मेरा रास्ता बंद कर दिया।

और क्या लिखूँ? मुझे यह जानकर हर्ष हुआ कि आप गुजरात में स्वस्थ और प्रसन्न हैं। हम लोग भी अच्छी तरह हैं।

एक बार फिर 'परख' के लिए बधाई लीजिए। हिन्दी-उपन्यास अब चेतेगा, इसमें सन्देह नहीं। एक साल के अन्दर 'कंकाल', 'परख', 'गढ़कुंडार', 'शराबी'-जैसी पुस्तकें निकल चुकीं, यह भविष्य के लिए शुभ लक्षण है।

न जाने आप से कब मुलाक़ात होगी! मालूम होता है, युग बीत गया।

भवदीय
धनपतराय

[३]

स्पेशल जेल, गुजरात (पंजाब)
४ दिसम्बर, १९३०

बाबूजी,

आपका खत समय पर मिल गया था। मैंने सोचा विशेषांक निकलने में अवकाश हो, एक कहानी लिख

साथ ही पत्र का जवाब दे दूंगा। लेकिन यहां की धूमधाम में कहानी तो लिखी न जा सकी और वह वक्त आ गया कि खत के जवाब को और टालना धृष्टता हो जाती। इससे इतनी देर बाद भी, खाली खत ही भेज रहा हूँ। क्षमा करें!

क्या विशेषांक निकल गया? एक (मेरी) प्रति शेख मुहम्मद अली साहब, मिल-ऑनर, गुजरात के पते पर भिजवा दें। मेरा नाम न लिखें। वह मुझे यहां पहुँच जायगी। जेल के पते पर भेजे गये अखबार नहीं मिलने दिये जाते। कृपा कर ध्यान रखकर जरूरी सूचना बनारस दे दें।

क्या आपकी पत्नी के जेल जाने पर धन्यवाद दूं? यह इसलिए भी धन्यवाद का विषय हो सकता है कि आपकी इस तरह जेल आने की राह और आवश्यकता रुक गयी। कितने पतियों ने पत्नियों को रोक रखा है; लेकिन वे पति धन्य है जिनकी पत्नियाँ आगे बढ़कर जेल में पहुँच गयी और उनको रुकने को लाचार कर गयी।

'कंकाल' की अर्द्धप्रकाशित प्रति मैंने देखी थी। प्रसादजी की कृति है, बुरी कैसे होती? 'उग्र' जी के 'शराबी' का नमूना 'मतवाला' के पृष्ठों में देखा याद पड़ता है। 'गढ़कुंडार' बिल्कुल ही नया नाम और नया काम मालूम होता है। मैं नहीं जानता, मैं यहाँ किसी से कोई चीज मँगा सकता हूँ। हाँ, 'शराबी' और 'गढ़-कुंडार' पढ़ना जरूर चाहूँगा। आपके पास काहे को कोई प्रति होगी? अगर 'हंस' के लिए प्राप्त हुई दो प्रतियों में से एक यहाँ (अर्थात् ऊपर दिये पते पर) भेजी जा सके तो मैं आलोचना 'हंस' में भेज दूंगा।

ऋषभचरण का खत मिला कि आप 'परख' को प्रसाद-स्कूल के अधिक निकट समझते है। आपने लिखा है कि आपको वह पसद आयी है और आप समालोचना 'हंस' के इसी अंक में दे रहे हैं। 'हंस' मिला तो आलोचना में देखूँगा ही। पर 'परख' में आपके

अनुसार कहाँ क्या अधिक और कहाँ क्या कम होना चाहिए था, यह मैं आपसे जाने बिना संतुष्ट न हूँगा। परीक्षक के ढंग से मैं उसे आपको सौंपना चाहता हूँ; अंतर केवल इतना ही कि परीक्षार्थी परीक्षक के नम्बर देने के ढंग को भी समझना चाहता है। ऋषभचरण ने जो स्कूल की बात लिखी, उसका भी खुलासा मैं जानना चाहूँगा।

पता चला है कि अवध उपाध्यायजी की आलोचना देवीदत्तजी ने 'सरस्वती' में नहीं छापी। सच बात तो यह है कि वह थी भी इस लायक नहीं। लेकिन आलोचना उन्हें पसन्द नहीं आयी, इतना ही होता तो अचरज की बात न थी। सुनते हैं किताब उन्हें और भी नापसन्द है। एक और मित्र के सम्बन्ध में मालूम हुआ है कि उन्हें 'परख' मेरी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं जँची; गोया कि लिखने से पहले ही मेरी लेखनी की प्रतिष्ठा बन गयी थी। इन सब ऊटपटाँग सम्मतियों का क्या बनाया जाय! और मैं समझता हूँ कि अगर लोग आपको और प्रसादजी को मंगलाप्रसाद पारितोषिक नहीं देते और फिर भी योग्य व्यक्ति को ही देना चाहते है तो वह मुझे ही दे सकते है। पारितोषिक का सम्मान इसी में है।

तो 'मेरी मेग्डलीन' आप छापेंगे? यह ठीक है। 'ग़बन' कब तक खतम होगा? कितनी मोटी चीज है? कोई 'रंगभूमि' के टक्कर की दूसरी चीज़ भी लिखिए न? आप और क्या लिख रहे हैं? जाने कौन कहता था कि एकेडमी के लिए 'गाल्सवर्दी' का अनुवाद करना आपने शुरू किया है। क्या यह ठीक है? मुझसे आप पूछें, और नाराज न हों तो मैं कहूँगा कि गाल्सवर्दी के अनुवादक तो बहुतेरे निकल आयेंगे, प्रेमचन्द इस काम को करते हैं तो हिन्दी का दुर्भाग्य है! गाल्सवर्दी की चीज़ों को मैंने दिल्ली-जेल में चख देखा था, विलायतीपन और विलायती भाषा के अजीबपन के आकर्षण को दूर रखने के बाद क्या मैं ज़रा देर के लिए भी गाल्सवर्दी को प्रेमचन्द से ऊँचा मान सकता हूँ? आप कहानियाँ लिखें,

रंगभूमियाँ लिख, पर मेरा निवेदन है कि गाल्सवर्दी के अनुवाद में फँसकर प्रेमचन्द से वंचित रखने का अनुपकार हिन्दी-साहित्य पर न करें।

'माधुरी' वालों ने मेरा पुरस्कार घर भेज ही दिया होगा। 'माधुरी' में 'परख' की समालोचना निकली या नहीं ? 'माधुरी' की भी मेरी प्रति शेख मुहम्मद अली के पते पर भेजने को कह दें तो कृपा हो।

आपसे मिलने को कैसा जी चाहता है ! सन्देह साक्षात् और वार्तालाप नहीं होता, तब तक पत्र से ही सही।

मैं यहाँ सर्वथा कुशल और आनन्द से हूँ। आपकी बधाइयों पर प्रसन्न और कृतज्ञ हूँ। शायद आप इस बात पर एक और बधाई भेज दें कि अभी कुछ दिन हुए, परमात्मा ने मुझे एक पुत्र का पिता बना दिया है।

आपका
जैनेन्द्रकुमार

[४]

नवलकिशोर प्रस,
प्रकाशन-विभाग,
लखनऊ
१७ दिसम्बर, १९३०

प्रिय जैनेन्द्रजी,

वन्दे ! पत्र मिला। वाह ! आपने कहानी लिख दी होती तो क्या पूछना। मैंने तो इस वजह से नहीं कहा था कि आपको कष्ट पर कष्ट क्या दूँ। अभी तक समय है, हालाँकि छपाई शुरू हो गयी है। पर आपकी कहानी मिल जाती तो आखिर वक़्त भी दे देता। क्या अब भी मुश्किल है ?

'परख' की आलोचना मैं 'माधुरी' या 'हंस' में करूँगा। मेरे पास दो प्रतियों में से एक भी नहीं बची। एक तो जेल भेज ही दी

थी, दूसरी एक महिला ले गयीं और अभी तक लौटा रही हैं। इसलिए उसका असर जो दिल पर पड़ा था वही लिखूंगा। 'गढ़-कुंडार' तो नई चीज है, मगर मेरा मन उसके पढ़ने में न लगा। दो-एक चरित्रों का चित्रण उसमें अच्छा हुआ है। उसकी आलोचना भी करूँगा।

'ग़बन' अभी तैयार नहीं हुआ। तीन सौ पृष्ठ छप चुके हैं। अभी एक सौ पृष्ठ और होंगे। यह एक सामाजिक घटना है। मैं पुराना हो गया हूँ और पुरानी शैली निभाये जाता हूँ। कथा को बीच में शुरू करना या इस तरह शुरू करना, कि उसमें ड्रामा का चमत्कार पैदा हो जाये, मेरे लिए मुश्किल है। पुरस्कारों का विचार करना मैंने छोड़ दिया। अगर मिल जाय तो ले लूंगा, पर इस तरह जिस तरह पड़ा हुआ धन मिल जाय। आप या प्रसादजी पा जायें तो मुझे समान हर्ष होगा। आपको ज्यादा जरूरत है इसलिए ज्यादा खुश हूँगा।

पुत्र मुबारक! ईश्वर चिरायु करे। या यों कहूँ, चिरायु हो। मैं तो पुराने खयाल का आदमी हूँ। दो पुत्रों तक तो बधाई दूंगा। इसके बाद जरा सोचूंगा।

'हंस' और 'माधुरी' दोनों ही यथास्थान भेज दी जाएँगी। 'शराबी' और 'गढ़कुंडार' दोनों ही की एक-एक प्रति मिली थी। वे दोनों भी मैंने पढ़कर जेल भेज दीं। अब तो उनके आने पर कितावें वापस होंगी। आखिर आप कब तक आवेंगे? 'माधुरी' में दो में से एक भी आलोचना के लिए नहीं आयी।

अब आपके उस प्रश्न का जवाब कि 'परख' को मैं प्रसाद-स्कूल के निकट क्यों समझता हूँ। मैं तो कोई स्कूल नहीं मानता; आपने ही एक बार 'प्रसाद स्कूल', 'प्रेमचन्द स्कूल' की चर्चा की थी। शैली में ज़रूर कुछ अन्तर है, मगर वह अन्तर कहाँ है, यह मेरी समझ में खुद नहीं आता। आपकी शैली में स्फूर्ति—सजीवता—कहीं अधिक है। चुटकियाँ, चुलबुलापन कहीं अधिक है। प्रसादजी

के यहाँ गम्भीरता और कवित्व अधिक है। Realist हम में से कोई भी नहीं है। हममें से कोई भी जीवन को उसके यथार्थ रूप में नहीं दिखाता, बल्कि उसके वांछित रूप में ही दिखाता है। मैं नग्न यथार्थवाद का प्रेमी भी नहीं हूँ। आपसे मिलने पर 'परख' के विषय में बातें होंगी—तब तक ग़बन भी तैयार हो जायगी।

आशा है, आप प्रसन्न होंगे।

भवदीय।
धनपतराय

P. S. अगर हो सका तो मैं 'शराबी' और 'गढ़कुंडार' और 'कंकाल' तीनों ही किसी तरह मँगवाकर भेजूंगा। समालोचना अवश्य कीजियेगा, 'हंस' के लिए।

[५]

स्पेशल जेल, गुजरात (पंजाब)
१७ दिसम्बर, १६३०

बाबूजी,

बहुत दिन हुए, यहाँ से आपको अमीनुद्दौला पार्क के पते पर एक खत डाला था। मालूम नहीं, आपको वह मिला भी या नहीं। आपका खत न पाने से जान पड़ता है, नहीं मिला।

'परख' हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर ने ही छापी है। आपको अवश्य मिल गयी होगी। वह आपको कैसी लगी? आपकी खुली सम्मति सुनने की बड़ी इच्छा है। नाथूरामजी प्रेमी ने उस पर अवध उपाध्यायजी की विस्तृत समालोचना की एक प्रति मेरे पास भेजी है। वह उपाध्यायजी ने सरस्वती में भेजी थी। मुझे अख़बार तो मिल पाते नहीं, इससे मालूम नही रहता, कहाँ क्या निकलता है। क्या आपने भी उसके सम्बन्ध में 'हंस' या 'माधुरी' में कुछ लिखा है? उपाध्यायजी ने तो किताब की बेहद तारीफ़ कर दी है। आप

जानते हैं मुझे उनकी परख पर बहुत भरोसा नहीं है। विज्ञान की तराज़ू पर तोल कर साहित्य पर जो निर्णय दिया जाता है, उसके मोह में मैं नहीं पड़ना चाहता, लेकिन आपकी और दो-एक सज्जनों की अच्छी सम्मति मुझे चाहिए ही। आपकी और उनकी निगाहों में पास समझा गया तो यही मेरे लिए सब-कुछ है। शेष से तारीफ़ पाने की इच्छा या चिन्ता जैसे मुझे बिल्कुल भी नहीं है। आपको मैं 'मेरी मेग्डलीन' दे आया था। नौ-दस महीने हुए होंगे। उसके प्रकाशित होने का अब क्या हाल है? जैसे और जहाँ से उचित समझें, छपवा दें और पैसा घर भिजवा दें। मैं जेल में हूँ, घर पर हर ताँबे के पैसे की ज़रूरत है। इस सम्बन्ध में मैं यह भी आपकी मार्फ़त 'माधुरी' के व्यवस्थापकजी को याद दिलवाना चाहता हूँ कि शायद अप्रैल (या आस-पास के) महीने की 'माधुरी' में प्रकाशित कहानी ('दिल्ली में') का पुरस्कार मुझे नहीं मिला है। वह कृपा कर भेज दिया जाना चाहिए। थोड़ा कष्ट उठाकर यह काम आप करा सकेंगे तो बड़ी कृपा होगी और 'मेरी मेग्डलीन' का भी ध्यान रखेंगे तो आभार होगा।

आपने इस बीच क्या लिखा है? नई छपी चीज़ों की एक-एक प्रति अवश्य भिजवा दीजिए। जेल में किताबों की क़ीमत और ज़रूरत और चाह कितनी रहती है, यह हमीं जान सकते हैं।

और आप कैसे है, यह अवश्य लिखें। यहाँ दो-एक आपके ज़बर्दस्त मुरीद है। जब उन्हें पता चला कि मैं आपसे राइटिंग टर्म्स पर होने का सौभाग्य रखता हूँ, तो उन्होंने मुझे शतशः अनुरोधपूर्वक आपको उनकी Respects लिख भेजने को कहा। वे आपकी कुशलता सुनने के बड़े आकांक्षी है। मैं उन्हें उन आठ-दस घंटों का हाल सुना चुका हूँ जो मुझे अब तक आपके साथ बिताने के लिए मिले है। उनकी याद मेरे भीतर बसी है। बड़े मजे की वह याद है। लेकिन वह मैं आपको नहीं सुनाऊँगा।

आशा है, आप प्रसन्न और स्वस्थ होंगे और पत्र देंगे।

मैं यहां इतनी अच्छी तरह हूं कि क्या कहूं। खाना बहुत अच्छा मिलता है, जेल के अन्दर घूमने को और खेलने को खूब मिलता है। बस, अखबार नहीं मिलते, यही जरा कमी है। सो यह भी कुछ नहीं, यदि नई-नई किताबें मिलती रहें।

विशेष नमस्कार और आदर के साथ,

आपका
जैनेन्द्रकुमार

[६]

स्पेशल जेल, गुजरात
७ जनवरी, १९३१

श्रद्धेय बाबूजी,

आपका पत्र समय पर मिल गया था। उत्तर आज इसलिए दे रहा हूँ कि जनवरी का पहला हफ़्ता खतम हो जाता है और 'हंस' के लिए कहानी भेजने के ख़याल को पास रखने की गुंजाइश भी बिलकुल खत्म हो जाती है। बात तो असल में यह है कि कहानियां हो गई हैं पर भेजी नहीं। प्रेस-आर्डिनेन्स की खबर पाते ही डर हुआ कि 'हंस' का यह अंक भी निकल गया तो आगे नहीं निकलने दिया जायगा। और क्या मालूम विशेषांक भी निकल पाये या नहीं। फिर संभावना थी कि उन कहानियों को जल्दी ही हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर भेजना पड़ जाय। वह संग्रह छापते हैं और कुछ नयी अप्रकाशित कहानियां चाहते हैं। बात जनवरी तक संग्रह के निकल जाने की थी। आपको कहानी भेजी गई और अखबार बन्द हो गया या विशेषांक में उसके निकलने की संभावना न रही तो इस तरह उसके फिर जल्दी बम्बई जाने में गड़बड़ पड़ जाती। इस तरह जो चार कहानियां इस बीच लिख डाली गयी हैं, मेरे पास हैं। पुरानी प्रकाशित कहानियों को उनसे (नाथूरामजी प्रेमी) पाने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ ताकि उनको एक बार फिर देखकर उनके साथ ही इन

नयी को भी रवाना कर दूँ। कृपा कर लिखिये कि आर्डिनेन्स की कृपा आपके प्रेस और पत्र पर तो नहीं हो गई? पत्र निकलता हो तो कृपाकर मेरी भूल को क्षमा कर दीजिए। पत्र निकले तो, अगर पहले लिखे पते पर न भेजा गया हो तो जेल के पते पर ही भिजवा दीजिएगा। 'माधुरी' भी। 'माधुरी' की उस कहानी के मेरे पुरस्कार के बारे में क्या हुआ, सो आपने नहीं लिखा था। 'माधुरी' के नाम पर वह बात भी याद आ गयी है तो आपको भी याद दिला देता हूँ।

'गढ़कुंडार' और 'शराबी' अगर आपको प्राप्त हो गये हैं तो मैं देखना चाहूँगा। समालोचना, जहाँ लिखेंगे, भेज दूंगा।

'ग़बन' तैयार हो गया? इसके बाद ही 'मेरी मैग्डलीन' प्रेस में जायगा न? तैयार हो गया हो तो पिछली किताबों के साथ 'ग़बन' की एक प्रति भी भेजिएगा।

मार्च के अन्त तक मैं छूटूंगा। लिखित नहीं तो सेवा में उपस्थित होकर मौखिक ही आपसे अपनी रचना के सम्बन्ध में आदेश और आलोचना प्राप्त करूँगा।

लेकिन इतना जरूर लिखिए कि आपकी राय में 'चुलबुलाहट' कम होनी चाहिए न? शायद मेरी कृति में यह पर्याप्त से अधिक मात्रा में होती है।

मैंने अभी ठीक पारखी और आलोचक-दृष्टि से साहित्य को जाँचना और जमाना नहीं सीखा। श्रेणी और 'स्कूल-विभाजन' का काम मैं अपने लिए मनचाहे जैसा कर भी सकूं, दूसरे के लिए और छपने के लिए नहीं कर सकता, लेकिन 'प्रसाद-स्कूल' शब्द काशी में सुन पड़ा था। स्वभावतः दूसरा स्कूल आपका ही होगा। खैर, जो हो। मैं तो चाहता हूँ, यह काम सब अपने लिए कर लिया करें।

मैं बिल्कुल प्रसन्न और स्वस्थ हूँ।

आपका
जैनेन्द्रकुमार

[७]

सरस्वती प्रेस,
१२ जनवरी, १९३१

प्रिय जैनेन्द्रजी,

कल पत्र पाकर बड़ा आनन्द हुआ। आपको भ्रम हुआ। आर्डिनेन्स तो फिर जारी हुआ लेकिन अभी मुझसे जमानत नहीं माँगी गयी, इसलिए 'हंस' का विशेषांक छप रहा है। आप यदि अपनी कहानी भेज दें तो तुरन्त छपवाऊँ और आपका लाखों यश मानूं। फिर तो पत्रिका सज उठे। सुदर्शनजी ने कहानी भेज दी है। राजेश्वरी ने भी भेजी है। कौशिकजी आजकल इतना लिख रहे हैं, कि मैंने उन्हें कष्ट देना व्यर्थ समझा। वह बहाना करके टाल जाते। आपकी कहानी आ जाय तो क्या पूछना!

हमारे प्रोप्राइटर बाबू विष्णुनारायण भार्गव का मद्रास में स्वर्गवास हो गया। घुड़दौड़ में गए, प्राणों की बाजी हार गए। अब देखना है कि यहाँ कैसे काम होता है, 'माधुरी' बंद होती है या चलती है, मुझे तो इसके चलने की आशा नहीं है।

'ग़बन' के तीन फ़ॉर्म और बाक़ी हैं। बेचैन हूँ कि कब छपें और कब आपके पास भेजूं। 'गढ़कुंडार' और 'शराबी' आज भेज रहा हूँ। मुझे तो 'गढ़कुंडार' कुछ (नहीं जँचा)। 'शराबी' अपने ढंग की बुरी चीज नहीं। आप इन दोनों की आलोचना कर सकें तो 'हंस' में छाप दूँगा।

हाँ, 'गबन' के बाद 'मैंगडलीन' छपेगी। तब तक मेरा दूसरा उपन्यास भी लिखा जा चुकेगा।

हाँ, पत्नीजी तो आ गईं, मगर शायद फिर जायँ। अभी उन्हें सन्तोष नहीं। सारा स्वराज्य एक बार ही ले लेंगी। किस्तों में नहीं चाहतीं।

मैंने 'परख' की आलोचना 'हंस' में कर दी है। 'माधुरी' का पुरस्कार तो भेजा जा चुका है। बहुत पहले ही। अब कुछ बाकी

नहीं।

और तो नई बात नहीं। आप बाहर आ जाएँ तो फिर बातें होंगी। उस थोड़ी देर की मुलाक़ात से तो प्यास और भी बढ़ गई थी।

आपका
धनपतराय

हाँ, उपन्यास हो या कहानी, उसमें चुलबुलाहट न हो तो बेचटनी-सा भोजन है। जरूर चाहिए। जराफ़त तो उपन्यास की जान है।

[८]

२० जनवरी, १९३१

बाबूजी,

पन्द्रह ता० को मैंने आपको कहानी भेजी थी। रजिस्ट्री से भेजता कैसे, इससे बैरंग भेजी ताकि पैसे वसूल करने की वजह से पोस्ट आफ़िस को उसे ठीक जगह पहुँचाने की चिन्ता रहे। वह आपको मिल गई न? वह लिखी तो चौदह को गयी थी लेकिन खत्म नहीं हुई थी। जब आपको भेजी, दोबारा देख भी न पाया। एक जगह एक शब्द सूझ नहीं रहा था इससे खाली छोड़ दिया गया था। मुझे पीछे उसका ख़याल आया। खैर। जहाँ-तहाँ की गलतियों को आपने सँभाल दिया होगा। 'हंस' कब तक आयेगा, लिखिए। आपकी किताबें अब तक नहीं मिलीं। शायद भेजने में भूल हो गयी, अब तक भेज नहीं पाये।

आपका
जैनेन्द्रकुमार

[६]

नवलकिशोर बुक-डिपो, लखनऊ
१८ फरवरी, १९३१

प्रिय जैनेन्द्र,

आपकी आलोचनाएँ मुझे पहले ही मिल गई थीं, पर जवाब की ऐसी कोई बात न थी। इससे विलम्ब से लिख रहा हूँ। सभी आलोचनाएँ 'हंस' में जा रही हैं। आपने 'गढ़कुडार' को पसन्द किया है। मैं तो पढ न सका था। कारण यह है कि उसमें आगे चलकर कुछ रस आता है और मैं आदि के दस-बीस पन्ने पढ़कर ही अधीर हो गया, आगे पढ़ने का धैर्य न रहा।

'हंस' अभी तक नही आया। शायद आज मिल जाय। इधर काशी में बुधवार से बहुत बड़ा दंगा हो रहा है, सभी कारोबार बंद हैं, प्रेस भी बंद है, यहाँ तक कि × × भी बंद है। शायद दो रोज में सामान्य स्थिति आ जाय।

इस बीच में निरालाजी की 'अप्सरा' भी प्रकाशित हो गई। यह उनका पहला उपन्यास है, मिलने पर भेजूंगा। आप कब तक बाहर आवेंगे ? एक बार हम लोगों का मिलना जरूरी है। मैं दिल्ली आ जाऊँगा। पूज्य बहनजी से भी जल्दी में कुछ बातें न हुईं।

'गबन' की एक प्रति भी शीघ्र ही भेजूंगा। इस पर जो कुछ लिखना हो, वह 'माधुरी' के लिए लिखिएगा। 'माधुरी' से अब मेरा सम्बन्ध नहीं रहा। मैं बुक-डिपो में आ गया। आ तो पहले ही गया था, अब पूर्ण रूप से आ गया। अप्रैल तक शायद यहाँ और रहूँगा, फिर काशी चला जाऊँगा और कहीं देहात में बैठकर कुछ लिखता-पढ़ता रहूँगा। 'हंस' तो आपके सिर डाल दूंगा। क्या बताऊँ, अभी एक हज़ार भी ग्राहक नहीं हैं। आप लिपट जाएँगे तो छः महीने में दो हज़ार छपेगा। उसके लिए प्रति मास एक गल्प लिखते जाइए और जो कुछ मिजाज में आवे, लिखिए।

'कल्याण' का कृष्णांक निकल रहा है। कुछ उसमें भी लिखिए। वह पैसे अच्छे देता है, हिन्दी में सबसे ज्यादा छपता है।

इधर उर्दू की उन्नति देखकर आश्चर्य हो रहा है। लाहौर से एक पत्रिका ने आठ सौ पचास पृष्ठों का विशेषांक निकाला है।

शेष कुशल है।

शुभेच्छु
धनपतराय

[१०]

स्पेशल जेल, गुजरात
२२ फरवरी, १६३१

बाबूजी,

आपका पत्र मिला। उससे एक ही रोज पहले एक कार्ड मैंने लिखा था। 'हंस' की और किताबों की प्रतीक्षा में हूँ। मैं स्वयं आपसे मिलने को भूखा हूँ। आप ही घर पर दिल्ली आ सकेंगे, इससे तो बढ़कर भाग्य ही क्या होगा! मैं अगले महीने की समाप्ति तक छूटूँगा। ठीक तिथि लिखना तो संभव नहीं। 'कल्याण' का विशेषांक कब निकलता है? मैं अवश्य उसके लिए लिखूँगा लेकिन जान पड़ता है अभी जल्दी नहीं है। आपकी सेवा और आज्ञा-पालन के लिए मैं तैयार हूँ ही। जब और जैसी आज्ञा होगी, 'हंस' के लिए लिखने का यत्न करूँगा। आपका फ़रवरी का अंक कब तक निकलेगा, क्योंकि उस कहानी की, हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर जो मेरा संग्रह निकाल रहे हैं, उसके लिए आवश्यकता है। क्या यह हो सकेगा कि उसकी प्रतिलिपि बम्बई पहुँच जाय?

और आप क्या नवलकिशोर प्रेस से सम्बन्ध तोड़ने का इरादा रखते हैं जो गाँव में बैठ जाने की बातें लिखते हैं? 'माधुरी' का क्या हाल है? विशेष सब कुशल है।

[१० अ]

लखनऊ
२६-२-१६३१

प्रिय जैनेन्द्रजी,

मैं थर-थर कांप रहा हूँ कि आप 'हंस' में पुस्तकों की आलोचना न पावेंगे तो मुझे क्या कहेंगे। मैंने आलोचना भेज दी थी। कह दिया था इसे अवश्य छापना। पर मैनेजर ने पहले तो कई लेख इधर-उधर के छाप डाले और पीछे से स्थान की कमी पड़ गई। मेरी एक कहानी जो राष्ट्रीय रंग में थी रह गई। आलोचनाएँ रह गई। आपकी कहानी रह गई। अब वह सब फरवरी के अंक में जा रही हैं। क्षमा कीजियेगा।

'ग़बन' छप गया है। बाइंडिंग होते ही पहुँचेगा। उस पर मैं आपकी दोस्ताना राय चाहूँगा।

'हंस' कैसा रहा?

इस तरफ़ तो और कोई पुस्तक नहीं आई। कल्याण के लिए यदि आप बाहर आकर भी लिखेंगे तो विलम्ब न होगा। १५००० छपता है। मैं उसकी लेख-सूची भेज रहा हूँ। विषय चुन लीजिए।

शेष कुशल।

भवदीय
धनपतराय

[११]

अजमेर कैम्प कांग्रेस, कराँची
२३ मार्च, १६३१

श्रद्धेय,

आपका पत्र दिल्ली मिला था। 'गबन' भी मिल गया था, पढ़ भी न पाया कि ऋषभचरण उठा ले गया। अब दिल्ली जाकर पढ़ूँगा और अपनी सम्मति लिखूँगा। सम्मति अच्छी के बजाय और कुछ

तो होने से रही। कुछ पृष्ठ न पढ़ लेता, इतना तो तब भी कह सकता था। यहाँ कल आया, पहली या दूसरी को बम्बई जाऊँगा। इस पत्र का उत्तर जो आप लिखें, बम्बई प्रेमीजी के पते पर दें। 'हंस' का फरवरी का अंक भी वहीं भिजवा दें। आपने 'कंकाल' और 'शराबी' का जिक्र तो किया, भेजा नहीं। मिल जाय तो उन्हें बम्बई भिजवा सकते हैं, रास्ता काटने को कुछ सामान मिलेगा, क्योंकि साथ में मेरे कोई किताब नहीं है।

विशेष कुशल है।

यहाँ चहल-पहल है। नौजवानों ने मौक़ा देखा है, उठ रहे हैं और गांधीजी को बैठा देना चाहते हैं। यह जानते नहीं कि गांधी मरकर ही बैठेगा। पढ़े-लिखे अहम्मन्य नौजवानों की बात थोड़ा-बहुत तमाशा अवश्य दिखायेगी। देखूं, क्या होता है। विशेष कुशल है।

आपका
जैनेन्द्र

[१२]

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, गिरगांव, बम्बई
६ अप्रैल, १९३१

बाबूजी,

मैं करांची से परसों यहाँ पहुँचा। 'गबन' जब चलनेवाला ही था कि दिल्ली में मिला था। कुछ सफ़े पढ़ पाता हूँ कि ऋषभ उसे उठा ले गया। सम्मति अब दिल्ली से ही लिखूंगा। फ़रवरी का 'हंस' का अंक मुझे यहाँ मिला। 'परख' की आपकी आलोचना तो चलती-सी रही जैसे बहुत भीड़ के वक्त लिखी गयी हो। [illegible] दो-एक रोज में चलूंगा। झाँसी भी ठहरने का [illegible] सोचता हूँ, सीधा वृन्दावनलालजी वर्मा के [illegible] ठहरूँ। जानता नहीं तो क्या! आपकी 'हंस' [illegible]

आप दिल्ली के पते पर लिखिएगा कि आप दिल्ली कब पधारिएगा। मैं नौ-दस तक दिल्ली अवश्य पहुँच जाऊँगा।

विशेष।

आपका
जैनेन्द्रकुमार

[१३]

साहित्य-सुमनमाला कार्यालय
नवलकिशोर प्रेस बुक-डिपो, लखनऊ
१३ अप्रैल, १९३१

प्रिय जैनेन्द्रजी,

आपका पत्र मिला। मैं लाहौर गया, पर आप दिल्ली न थे, इसलिए मैं सीधा लौट आया। आशा है अब आप दिल्ली आ गए होंगे। आपको कहानी का पुरस्कार भेजने के लिए मैंने ताक़ीद कर दी है। आशा है, जल्द पहुँचेगा। 'गबन' आप पढ़ लें और मैं कुछ आपकी राय जान लूँ तो मुझे सन्तोष हो। 'परख' की आलोचना जल्दी में तो नहीं की, लेकिन अपनी दानिश्त में मुझे जो कुछ कहना चाहिए था वह कह चुका। मैं समालोचक बहुत खराब हूँ। पुस्तक पर पाठक की दृष्टि से निगाह डालता हूँ। और जो भाव जम जाता है वही लिखता हूँ। ×××× आयी तो थी पर एक साहब लेकर मुरादाबाद चले गए, वे लौट कर आवें तो भेजूँ।

आशा है आप (सानन्द) हैं।

भवदीय
धनपतराय

[१४]

पहाड़ी धीरज, दिल्ली
१६ अप्रैल, १९३१

बाबूजी,

आपका पत्र मिला। मैं यहाँ तेरह तारीख की सुबह पहुँचा।

उसी दिन श्री स्वामी आनन्द भिक्षुजी से मिलना हुआ था। उनसे मालूम हुआ था कि आप देवशर्माजी को लाहौर जाते हुए सहारनपुर के स्टेशन पर मिल गये थे। मैं इससे यह समझता था कि आप अभी लाहौर ही होंगे और लौटते हुए जरूर दिल्ली उतरेंगे। और मैं हर रोज आपके यहाँ आने की आशा कर रहा था। उसके बदले में मिला आपका खत जिससे मालूम हुआ कि आप लखनऊ पहुँच गए और अब जल्दी इधर आनेवाले है नहीं। यह तो कुछ बात ही न हुई। मैं यहाँ आपकी सलाह और मदद से कुछ अपनी जिन्दगी की समस्याओं को हल करने की सोच रहा था। खैर!

पुरस्कार के बीस रु० मुझे परसों मिल गये। 'ग़बन' अब पढ़ रहा हूँ। कल तक पढ़ चुकूंगा। पसंद न आये यह तो हो ही कैसे सकता है! ज्यादा खत्म करने पर लिखूंगा।

स्वामीजी, आज मालूम हुआ, लखनऊ ही गये है। वह शायद आपको मिलें। उनसे आप जानेंगे कि यहाँ न आकर आपने कैसा अत्याचार किया। मैं आखिर दिल्ली आता था ही। स्टेशन पर ही नहीं तो एक दिन बाद सही, मैं यहाँ हाजिर हो ही जाता। मेरा आपको देखने को बड़ा जी है।

'परख' की आपकी आलोचना से मैं असहमत हूँ, सो बात नहीं। उस विलक्षण विवाह के बारे में तो मुझे अब खयाल होता है कि शायद कुछ एक्स्ट्रा-ऑर्डिनरी के मोह में पड़कर, कि पुस्तक जिससे असाधारण जँचे, मैंने वह बात उस तरह लिखी। अब सचमुच लगता है कि वह अयथार्थ मोह था और मेरी कमी थी। और पुस्तक का परिचय देते-देते जो आप पुस्तककार पर कुछ शब्द लिख गये, यह मुझे बड़ा प्रिय लगा। जैसे आप उस लेखक को पाठक के निकट पहुँचा देना चाहते है और उनमें आपस में मेलजोल हो जाय। लेकिन पहले कार्ड में जो मैंने लिखा, उसका आशय यह था कि पुस्तक पर आपका वक्तव्य इतना संक्षिप्त है कि पुस्तककार, जिसे आपसे उसके गुण-दोषों की समीक्षा और आलोचना सुनने की उत्कण्ठा थी, संतुष्ट नहीं हो सकता।

और वह भी जो आपसे खरी बात सुनने की जिद करने का अपना अधिकार समझने लग गया है। आप चाहें तो 'माधुरी' या और किसी में या उससे भी अच्छा मुझे, समीक्षात्मक अपनी विस्तृत सम्मति भेज सकते हैं और इस 'चलित-चित्त' के बारे में भी अपनी राय लिखें। मेरे मन में हो रहा है, न जाने कैसी है, कैसी नहीं। दुबारा पढ़ी तो बीच-बीच में कुछ गड़बड़-सी लगने लगती है। आप इस पर समीक्षक नहीं, उस्ताद की हैसियत से मुझे कुछ लिखें। आपको याद हो कि उस मुलाक़ात के वक़्त मैंने जब आपसे इस कहानी के थीम का जिक्र किया था तो आपने कुछ संदेह-सा प्रकट किया था। सो ही समझकर आप मुझे लिखें।

मैं यहाँ बिलकुल स्वस्थ और प्रसन्न हूँ। और माताजी अच्छी तरह हैं। और सब कुशलपूर्वक हैं।

मेरे योग्य सेवा लिखें।

आपका विनीत
जैनेन्द्रकुमार

[१५]

पहाड़ी धीरज, दिल्ली
२६ जून, १९३१

बाबूजी,

आपके पत्र का जवाब मैंने परसों दिया है या कल। मिला होगा। 'वातायन' वाली कहानी कल ही रवाना कर चुका हूँ। आज 'ग़बन' की आलोचना लिखता था कि नन्ददुलारे वाजपेयी का बहुत-बहुत अनुरोध का पत्र आ पहुँचा। 'भारत' के लिए कहानी चाहते हैं। क्योंकि ऐसी आलोचना लिख चुके हैं जो मेरे बहुत अनुकूल न थी, इसलिए भी उनके अनुरोध को मानना जरूरी हो गया है, कहीं वह और न समझें। इसलिए अब वही लिख रहा हूँ। यह इसलिए आपको लिखता हूँ कि आप 'भारत' में कहानी देखकर मुझे उला-

हना न दें। कल आपकी आलोचना और फिर जल्दी ही कहानी लिखूँगा। 'भारत' में आज हिन्दुस्तानी एकेडमी की पुरस्कार-सूचना दीख पड़ी। 'परख' और नये छपते हुए संग्रह 'वातायन' की यथावश्यक प्रतियाँ यथास्थान भेजने के लिए बम्बई लिख रहा हूँ। मुझे विश्वास है, यह दुस्साहस नहीं है। 'वातायन' छपते ही आपके पास आयगा। जल्दी ही छप जायगा।

विशेष कुशल है।

विनीत
जैनेन्द्र

[१६]

सेण्ट्रल जेल, लाहौर
१६ जुलाई, १९३२

बाबूजी,

आपका पत्र मुल्तान में मिला था। ख़याल था कि जवाब दूँ तो कहानी के साथ दूँ। कहानी जो शुरू की थी, शुरू करते न करते छूट गई। और जब आपका पत्र आया, तब उन कुछ लिखे पन्नों का भी पता न चला। दूसरी कहानी या वही कहानी दूसरी बार लिखने का फिर न मन हुआ, न मौक़ा हुआ। यह भी ध्यान हुआ कि नया आर्डिनेंस लग गया है, और अब आपका विशेषांक क्या निकलेगा। क्या विशेषांक निकल रहा है? और क्या उसमें कुछ देर है? सूचना मिली, और अंक निकलता हुआ और उसके निकलने और आपके पत्र में काफ़ी से कम वक्त भी हुआ, तो भी यहाँ से कहानी अवश्य भेजूँगा। यहाँ मुलतान-जैसा जमघट नहीं है।

१३ ता० को मैं यहाँ आया। राजनैतिक क़ैदियों को, रिहाई की तिथि निकट आते ही यहाँ भेज देते हैं, मुल्तान में रिहा नहीं करते। यों मेरी तिथि अट्ठारह है; पर जुर्माने का और डेढ़ महीना यहीं काटना होगा। सामान कुर्क करके, जुर्माना वसूल कर लिया

जाय तो बात दूसरी, पर इसकी आशा कम है।

आपका 'कर्मभूमि' कितना हो गया ? जल्दी देखने की उत्सुकता है। आपको जाननेवाले हर जगह मिल जाते हैं। पर कृतियों से, दूर-दूर से ऐसा जानते हैं कि यथार्थ ही आपको जाननेवाले किसी को सामने पाकर उन्हें हर्षमय विस्मय होता है। तब आपके प्रति उनके आदर-भाव का कुछ प्रतिबिम्बित अंश अनायास उस जानहार को भी पाना होता है। इस पर उसे गर्व भी होता है, लज्जा भी। मुफ़्त आदर क्या बुरा ? मुफ़्त है, इसलिए क्यों अच्छा नहीं ? पर, मुफ़्त है इसलिए वह कठिन है, भारी लगता है। ऐसे ही एक महाशय अपना लिफ़ाफ़ा और कागज पेश करके हठात् मुझसे आपको यह पत्र लिखवा रहे हैं। नवयुवक हैं, बम्ब-केस में हैं और आपको जानने के मेरे सौभाग्य के बधाई-स्वरूप मेरे प्रति अत्यन्त सेवोद्यत हो गये हैं। मुझे लिखते हुए अपने पत्र में आप उन्हें अवश्य याद करें। जेल में लिफ़ाफ़ा क़ीमती चीज है और मैं आपको लिख-पढ रहा हूँ, इसका तमाम श्रेय उनको है।

अब आप गाँव में रहते हैं, या शहर में ? मकान ले लिया है ? दोनों बच्चे कहाँ हैं ? शहर में ही रहना होता होगा उन्हें तो। अगर 'हंस' बंद है तो क्या आप नया कुछ नहीं लिख रहे ?

'मेरी मैग्डलीन' क्या छपना आरम्भ हो गया ? औ रमैंने 'स्पर्द्धा' कहानी ठीक करके राय साहब को भिजवायी थी, क्योंकि उन्होंने मुझसे एक बार सानुरोध कहा था। क्या वह उन्हें मिल गयी ? पुछवाकर अवश्य सूचित कीजिएगा। क्योंकि इस काम के लिए एक आदमी की तत्परता के विश्वास पर निर्भर करना हुआ था।

और कुशल-समाचार और साहित्य-समाचार लिखिएगा। श्री कृपाराम मिश्र की जिस किताब का जिक्र किया था, वह भेज सकें तो अवश्य भेजें। विशेष सब ठीक है।

आपका

जैनेन्द्र

[१७]

सरस्वती प्रेस, काशी
१५ अगस्त, १६३२

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए मिला। मैं आशा कर रहा था कि पहाड़ी धीरज से आ रहा होगा, पर आया लाहौर से। खैर, लाहौर मुल्तान से कुछ कम है। उससे कई दिन पहले मुल्तान मैंने एक पत्र भेजा था। शायद वह लौटकर आ गया हो। अच्छा, मेरी गाथा सुनो। 'हंस' पर जमानत लगी। मैंने समझा था आर्डिनेंस के साथ जमानत भी समाप्त हो जायगी। पर नया आर्डिनेन्स आ गया और उसी के साथ जमानत भी बहाल कर दी गई। जून और जुलाई का अंक हमने छापना शुरू कर दिया है। पर मैनेजर साहब जब नया डिक्लेरेशन देने गए तो मजिस्ट्रेट ने पत्र जारी करने की आज्ञा न दी, जमानत माँगी। अब मैंने गवर्नमेंट को एक स्टेटमेंट लिखकर भेजा है। अगर जमानत उठ गई तो पत्रिका तुरन्त ही निकल जायगी। छप-कट-सिलकर तैयार रखी है। अगर आज्ञा न दी गई तो समस्या टेढी हो जायगी। मेरे पास न रुपये हैं, न प्रॉमेसरी नोट, न सिक्योरिटी। किसी से क़र्ज लेना नहीं चाहता। यह शुरू साल है, चार-पाँच सौ वी० पी० जाते, कुछ रुपये हाथ आते। लेकिन वह नही होना है।

इस बीच मैंने 'जागरण' को ले लिया है। 'जागरण' के बारह अंक निकले, लेकिन ग्राहक-संख्या दो सौ से आगे न बढ़ी। विज्ञापन तो व्यासजी ने बहुत किया, लेकिन किसी वजह से पत्र न चला। उन्हें उस पर लगभग पन्द्रह सौ का घाटा रहा। वह अब बंद करने जा रहे थे। मुझसे बोले, यदि आप इसे निकालना चाहें तो निकालें; मैंने उसे ले लिया। साप्ताहिक रुप में निकालने का निश्चय कर लिया है। पहला अंक जन्माष्टमी से निकलेगा। तुम्हारा इरादा भी एक साप्ताहिक निकालने का था। यह तुम्हारे लिए ही सामान

है। मैं जब तक इसे चलाता हूँ; फिर यह तुम्हारी ही चीज है। धन का अभाव है। 'हंस' में कई हजार का घाटा उठा चुका हूँ। लेकिन साप्ताहिक के प्रलोभन को न रोक सका। कोशिश कर रहा हूँ कि सर्वसाधारण के अनुकूल पत्र हो। इसमें भी हजारों का घाटा ही होगा। पर करूँ क्या! यहाँ तो जीवन ही एक लम्बा घाटा है। यह कुछ चल जायगा तो प्रेस के लिए काम की कमी की शिकायत न रहेगी। अभी तो मुझे ही पिसना पड़ेगा, लेकिन आमदनी होने पर एक सम्पादक रख लूँगा। अपना काम केवल एडिटोरियल लिखना होगा।

तुम्हारी कहानी 'स्पर्द्धा' छप रही है। रायसाहब छपवा रहे हैं। 'मैग्डलीन' भी छपवाने वाले हैं।

'कर्मभूमि' के तीस फॉर्म छप चुके हैं। अभी क़रीब छः फ़ॉर्म बाक़ी है। 'हंस' में हाथ लगा दिया। प्रेस को अवकाश न मिला। इसलिए अब तक पुस्तक तैयार न हुई। अब उसे जल्द समाप्त करता हूँ। सबसे पहले तुम्हारे पास भेजी जायगी और तुम्हारे ममताशून्य फ़ैसले पर मेरी कामयाबी या नाकामी का निर्णय है। दो कहानियों के छोटे-छोटे संग्रह और छापे है। पं० कृपानाथ मिश्र की 'प्यास' भेज रहा हूँ। संभव हो तो इसकी आलोचना करना। अब मैं शहर में रह रहा हूँ। लड़के पढ़ने जाते हैं। मैं भी प्रेस में घड़ी-आध घड़ी के लिए चला आता हूँ।

जिन भाई का आपने अपने पत्र में ज़िक्र किया है, उन्हें मेरा बड़े प्रेम से वंदे कहिएगा। मेरे हृदय में उनकी सच्ची शुभ-कामना है। उनका नाम न लिखा। मैं अपना नया उपन्यास उनके पास भेजूंगा।

अभी श्री आनन्दभिक्षु सरस्वती का पत्र आया। उन्हें मध्य-प्रान्त और ग्वालियर की साहित्य-सभाओं की ओर से 'भावना' पर पुरस्कार मिले हैं। 'भावना' है भी तो अच्छी चीज़!

इधर पं० श्रीराम शर्मा का 'शिकार', स्वामी सत्यदेवजी की

कहानियों का संग्रह, डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'षोडशी' आदि पुस्तकें निकली हैं। डा० वृन्दावनलालजी का 'कुंडलीचक्र' मैंने बड़े शौक़ से पढ़ा। लेकिन पढ़कर मन फीका पड़ गया। कहीं गर्मी नहीं मिली, न चुटकी, न खटक। शायद मुझमें भावशून्यता का दोष है।

और तो सब कुशल है। ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि तुम सुखी रहो।

तुम्हारा सच्चा भाई
धनपतराय

[१८]

सरस्वती प्रेस, काशी
७ दिसम्बर, १६३२

प्रिय जैनेन्द्र, वन्दे !

कार्ड मिला था। सरस्वती प्रेस और 'जागरण' से २६-१०-३२ को 'उसका अंत' नाम की कहानी के दंड में दो हज़ार की जमानत माँगी। बहुत परेशान हुआ, भागा हुआ लखनऊ पहुँचा, वहाँ चीफ़ सैक्रेटरी से मिलकर कहानी का आशय समझाया और अपनी लॉयल्टी के प्रमाण दिये। अब आशा है जमानत मंसूख हो जायगी। जरा-जरा-सी बात में गर्दन पर छुरी चल जाती है।

'कर्मभूमि' तुम्हें बहुत बुरी नहीं लगी, इससे खुशी हुई। इसकी कहीं आलोचना कर दो।

तुम्हारी परेशानियों की कहानी पढ़कर बड़ी चिन्ता में हूँ। इस मास कुछ भेजूंगा जरूर। 'जागरण' बड़ा पेटू है और 'हंस' पैसे खाने में शेर।

बच्चों को आशीर्वाद !

सप्रेम
धनपतराय

[१९]

सरस्वती प्रेस, काशी
१० जनवरी, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

प्रेम ! पत्र मिला। छोटे दिलीप की बीमारी की बुरी खबर सुनी है। सर्दी यहाँ भी जोरों की है। दिल्ली का क्या पूछना ! ईश्वर उसे जल्द अच्छा कर दे।

पं० बनारसीदासजी यहाँ रविवार को आ रहे हैं। माखनलालजी कल यहाँ आये थे। तुम्हारी कहानी मैंने कहीं नहीं भेजी। यहाँ प्रसादजी से उस पर मेरी बातचीत हुई। एक दल तो उसे अवश्य ही घासलेटी कहेगा। ये लोग उसी दल में हैं। मैंने समझा, यदि कोई उस पर कुछ लिखेगा तो उसका जवाब दिया जायगा। अपनी तरफ से नाहक क्यों तूफ़ान खड़ा किया जाय !

हाँ, मैं भी चाहता हूँ, 'परख' पर कुछ लिखवाऊँ। मुझे आलोचना नहीं करनी आती। यहाँ आलोचना के लिए (जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज') सबसे अच्छे है। वह परीक्षा में लगे हुए हैं; और तो मुझे कोई आलोचक नहीं दिखता।

'कर्मभूमि' की आलोचना जल्द निकलनी चाहिए।

सुभद्राकुमारीजी को बधाई तो दे दी थी। 'हंस' में आलोचना कर रहा हूँ।

रुपये नहीं जा सके, मगर दो-एक दिन में अवश्य ही जाएँगे। हजारों रुपये बाकी पड़े हुए हैं, लेकिन जब तक अपने हाथ में न आ जायँ, क्या कहा जाय ? शिवपूजन प्रयाग हैं। ज्यों ही आयेंगे, कहानी ले लूँगा।

और सब कुशल है।

तुम्हारा
धनपतराय

[२०]

सरस्वती प्रेस,
१७ जनवरी, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

आशीर्वाद ! तुम्हारे दोनों पत्र मिले । उसके दो दिन पहले मैंने एक कहानी 'भारत' के लिए लिखी थी । बड़ी मनहूस कहानी निकली । कुछ इसी तरह का उसका विषय था ।

बच्चा चला गया । खत पढ़ते ही पहले तो कलेजा सन्न हो गया, लेकिन फिर मन शांत हो गया । यही जीवन के कड़वे अनुभव हैं । इन्हें झेले जाओ तो सब-कुछ सरल हो जाता है । फिर रोयें भी तो किसके सामने ? कौन देखनेवाला है ? किसी को अपना समझें क्यों ? अपना केवल इतने ही के लिए समझो कि उसके प्रति हमारे कर्तव्य हैं । ज्ञान-बान तो मैं जानता नहीं । ऐसे आघातों से कलेजे पर घाव लगता ही है । लेकिन लगना चाहिए नहीं । तुम रोये नहीं, इससे मेरा चित्त बहुत शान्त हुआ । तुम यहाँ होते तो तुम्हारी पीठ ठोंकता । यही तो परीक्षा के अवसर हैं ।

भगवती और माताजी को बहुत समझाना । देवियों का हृदय कोमल होता है । बच्चा उनके अंग का एक भाग-सा था । होते ही उसी के झगड़ों में लग जाती थीं । अब उन्हें कितना सूना-सूना लगता होगा । माताजी ने दुनिया के सुख-दुःख देखे हैं । उनको मैं क्या समझाऊँ ! लेकिन भगवती से कहूँगा धैर्य से काम लो । बच्चे को तुमने पाला-पोसा, फिर भी वह तुमसे रूठ कर चला गया । उसकी स्मृति क्या उससे कम प्यारी है ! मैं तो समझता हूँ वह और भी प्यारा हो गया है; समझो कि अब तुम्हारी गोद में खेल रहा है । बल्कि तुम्हारे हृदय के अंदर है । कहीं गया नहीं, भीतर जो बैठा है, अब बाहर की गर्मी, सर्दी, रोग, व्याधि का इस पर कुछ असर न होगा । फिर क्यों रोते हो ?

चतुर्वेदी भी आये थे। दो दिन खूब बातें हुईं। प्रसादजी से भी भेंट हुई। मैं समझता हूँ उनमें बहुत-कुछ सफ़ाई हो गयी है। कहानी के विषय में मेरी उनसे बातचीत हुई, मैंने उन्हें समझाने की चेष्टा की। वह अपनी तरफ़ से अड़े रहे। लेकिन उसे इधर-उधर भेजकर एक झगड़ा खड़ा करना उन्हें भी पसन्द नहीं है।...

चैक से बीस रुपये भेजता हूँ। रुपये मँगवाने में डाक का समय निकल गया।

अभी शिवपूजन सहायजी घर से नहीं लौटे। आते ही कहानी ले लूंगा। सुदर्शनजी एक फ़िल्म कम्पनी में छः सौ रुपये पर नौकर हो गये।

और तो सब कुशल है।

तुम्हारा
धनपतराय

[२१]

सरस्वती प्रेस,
४ मार्च, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

मैंने कई दिनों से तुम्हें पत्र नहीं लिखा। कोई बात लिखने की ऐसी थी भी नहीं। तुम्हारा लेख शिवपूजन सहायजी से मिल गया और छप भी गया, मगर है बहुत नन्हा-सा। मेरा लेख भी इतना ही बड़ा होगा।

तुम्हारा उपन्यास चल रहा है, या आराम करने लगा? मैं समझता हूँ, अब तुम हर तरह से स्वस्थ हो।

तीन-चार दिन इलाहाबाद रहा और (वहाँ) तुम्हारी खूब चर्चा रही। इंडियन प्रेसवाले तुम्हें पत्र लिखेंगे।

पुन्नू की अम्मी की किताब को भूलना नहीं। तुम्हारा (लिख देना) ही उन्हें आसमान पर चढ़ा देगा।

और तो नई बात नहीं।

तुम्हारा
धनपतराय

तुम अपना तौलिया यहाँ छोड़ गये जिससे बंदा देह पोंछता है।

[२२]

सरस्वती प्रेस, बनारस
६ मई, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

पत्र मिला। मैं सागर गया था। कल शाम को लौटा हूँ। बेटी के बालक हुआ, पर चौथे दिन उसे ज्वर आ गया और प्रसूत-ज्वर के लक्षण मालूम हुए। यहाँ तार आया। हम दोनों प्राणी भागे हुए गये। मैं तो लौट आया, तुम्हारी भाभी अभी वहीं हैं। 'हंस' निकल गया। कल रवाना होगा। अब के बड़ी देर हो गयी। तस्वीरों का इन्तजार था। तस्वीरें तो न आयीं, देर हो गई। यह सुनकर खुशी हुई कि 'रंगभूमि' वालों से तुम्हारा मामला हो गया। बड़ी अच्छी बात हुई। मगर भाई, 'हंस' को महीने में एक मोती न दोगे तो बेचारा जियेगा कैसे? यह अंक भी बिना तुम्हारी कहानी के गया।

और तो सब कुशल है। 'जागरण' अभी तक खड़ा नहीं हुआ, घिसट रहा है।

भगवती को मेरा आशीर्वाद कहना और महात्माजी को प्रणाम। दिलीप को प्यार।

तुम्हारा
धनपतराय

[२३]

सरस्वती प्रेस,
२७ मई, १६३३

प्रिय जैनेन्द्र,

कई लेख, आलोचना और पत्र मिले। धन्यवाद ! तुम्हारी कहानी अब के जरूर रहे।

पुस्तकों का हाल न पूछो। 'प्रेम की वेदी' और 'फाँसी' का महीनों से विज्ञापन हो रहा है, पर मुश्किल से दस आर्डर आये होंगे। यह हाल है पुस्तकों का ! एक एजेंट रखा है, पर वह लिखता है, पाठशाला और बालकों की पुस्तकों की माँग अधिक है। 'फाँसी' वहाँ किसी बुकसेलर की दूकान पर रख दो, कुछ न कुछ बिकती रहेगी। आजकल पुस्तकों का बाजार ठंडा है। सन्तानशास्त्र कुछ बिकता है, या वह जिससे जीवन का कोई प्रश्न हल होता है।

दैनिक 'जागरण' के विषय में मैं इससे अधिक और कुछ नहीं जानता कि वे लोग उद्योग कर रहे हैं। ज्यादा परवाह भी नहीं है।

कमला को प्रसूत-ज्वर है। धुन्नू की अम्माँ अभी वहीं है। एक खत से मालूम होता है हालत अच्छी है, दूसरा पत्र आकर चिंता में डाल देता है। चि० दिलीप तो अब स्वस्थ है। मैं समझा था, महात्माजी आ गये होंगे। भगवती को यहाँ भेजोगे ? एक-दो महीना हमें भोजन दे दो। मगर तुम सोचोगे, वहाँ क्या होगा ? संसार स्वार्थी है ही। कहानियों की सेल तो आजकल बहुत कम है। मेरी बीस कहानियाँ पड़ी हुई हैं, छापने की हिम्मत नहीं पड़ती। अभी तो 'मैंग्डलीन' निकालने दो। कहानी अवश्य। मई आज तैयार हो गया। मई का मई में ! कितनी तारीफ़ की बात है।

तुम्हारा
धनपतराय

[२४]

बनारस सिटी,
१७ जुलाई, १६३३

प्रिय जैनेन्द्र,

आदावअर्ज। भई वाह! मानता हूँ। जून गया, जुलाई गया और अगस्त का मैटर भी जानेवाला है। जुलाई बीस तक निकल जायगा। लेकिन हुजूर को याद ही नहीं। क्यों याद आये! बड़े आदमी होने में यही तो ऐब है। रुपये तो अभी कहीं मिले नहीं। लेकिन यश तो मिल ही गया है और यश के धनी धन के धनी से क्या कुछ कम मगरूर और भुलक्कड़ होते हैं!

अच्छा दिल्लगी छोड़ो। यह बात क्या है? तुम क्यों मुझसे तने बैठे हो? न कहानी भेजते हो, न खत भेजते हो। मैं तो इधर बहुत परेशान रहा। याद नहीं आता, अपनी कथा कह चुका हूँ। बेटी के पुत्र हुआ और उसे प्रसूतज्वर ने पकड़ लिया। मरते-मरते बची। अभी तक अधमरी-सी है। बच्चा भी किसी तरह बच गया। आज बीस दिन हुए यहाँ आ गयी है। उसकी माँ भी दो महीने उसके साथ रही। मैं अकेला रह गया था। बीमार पड़ा, दाँतों ने कष्ट दिया। महीनों उसमें लग गये। दस्त आये और अभी तक कुछ न कुछ शिकायत बाक़ी है। दाँतों के दर्द से भी गला न छूटा। बुढ़ापा स्वयं रोग है और अब मुझे उसने स्वीकार करा दिया कि अब मैं उसके पंजे में आ गया हूँ।

काम की कुछ न पूछो। बेहूदा काम कर रहा हूँ। कहानियाँ केवल दो लिखी हैं, उर्दू और हिन्दी में। हाँ, कुछ अनुवाद का काम किया है।

तुमने क्या कर डाला, अब यह बताओ! 'रंगभूमि' से क्या रहा? निभा जाता है या नहीं? कोई नयी चीज़ कब आ रही है? बच्चा कैसा है? भगवती देवी कैसी हैं? माताजी कैसी हैं?

महात्माजी कैसे हैं ? सारी दुनिया लिखने को पड़ी है, तुम खामोश हो।

'सरस्वती' में वह नोट तुमने देखा ? आज पं० बनारसीदास जी के पत्र से मालूम हुआ कि यह शास्त्रीजी की दया है। ठीक है। मैं तो खैर बूढ़ा हो गया हूँ और जो कुछ लिख सकता था लिख चुका और मित्रों ने मुझे आसमान पर भी चढ़ा दिया। लेकिन तुम्हारे साथ यह क्या व्यवहार ? भगवतीप्रसाद वाजपेयी की कहानी बहुत सुन्दर थी और इन चतुरसेन को क्या हो गया है कि 'इस्लाम का विष-वृक्ष' लिख डाला ! इसकी एक आलोचना तुम लिखो और वह पुस्तक मेरे पास भेजो। मैंने चतुर्वेदीजी से प्रस्ताव माँगा है। इस कम्युनल प्रोपेगेंडा का जोरों से मुक़ाबला करना होगा और यह ऋषभ भला आदमी भी इन चालों से धन कमाना चाहता है।

यहाँ एक कवि-सम्मेलन कल हुआ। आज दूसरा है। शीघ्र पत्र लिखो। कहानी पीछे भेजना।

तुम्हारा
धनपतराय

[२५]

सरस्वती प्रेस,
१ अगस्त, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। (बच्चे) का हाल सुनकर चिंता हुई। अब तो अच्छा हो रहा होगा। इधर मैं भी स्वस्थ नहीं हूँ, लेकिन काम किये जाता हूँ।

आजकल हिन्दी में अजीब धाँधली है। जिसकी पुस्तक की बुरी आलोचना कर दो वह लड़ने पर तैयार हो जाता है। इसलिए मैंने इरादा किया है कि कहानी और उपन्यासों की आलोचना करना

ही छोड़ दूं। जिसकी तारीफ़ कर सकूंगा, उसकी आलोचना करूँगा; जिसकी तारीफ़ न कर सकूंगा, उसे किनारे रख दूंगा। 'सरस्वती' ने तो वह (लेख) छापा ही था, अब 'सुधा' और 'माधुरी' भी टिप्पणियाँ करते जाते हैं।

पुस्तकों की खपत बहुत कम है। फिर भी 'अज्ञेय' जी की पुस्तकें भिजवा देना। 'हस्त-रेखा' की आलोचना अच्छी हो तो करवा देना।

बच्चा अच्छा होगा। भगवती को आशीर्वाद कहना। बेटी अच्छी है, और सभी चले जा रहे हैं।

तुम्हारा
धनपतराय

[२६]

जागरण-कार्यालय,
१ सितम्बर, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। हाँ भाई, तुम्हारी कहानी बहुत देर में पहुँची। अब सितम्बर में तुम्हारी और 'अज्ञेय' जी की, दोनों ही जा रही है। जुलाई में 'क्रांतिकारी की माँ' नाम की कहानी 'हंस' में छपी थी, उस पर सरकार ने जमानत की धमकी दी।

आजकल इतनी मंदी है कि समझ में नहीं आता, काम कैसे चलेगा। मजदूरों को वेतन चुकाने में कठिनाई पड़ रही है। इसलिए तुम्हारे पास कुछ न भेज सका। जिनके ज़िम्मे बाक़ी है वे साँस ही नहीं लेते। रुपये मिलते ही महावीर के खर्च के लिए भी रुपये भेजूंगा और तुम उन्हें ताक़ीद कर देना कि मेरठ और दो-तीन शहरों का दौरा करते और एजेंटों से बातचीत करते हुए आवें। यहाँ आने पर मैं उन्हें बिहार की ओर भेजूंगा। 'मैग्डलीन' तुम्हारे आदेशानुसार कार्यालय में पहले ही लगाये देता हूँ।

मेरा जी इतने छोटे-से काम में हार नहीं मानना चाहता। 'जागरण' अब तक नफ़ा देता यदि मैं 'हंस' को और सुंदर निकाल सकता, इसकी सामग्री और सुंदर बना सकता, इसमें दो-चार चित्र दे सकता। लेकिन धन का काम अब समय से लेना पड़ेगा। मैं चाहता हूँ कि तुम यह समझो कि तुम्हीं यह पत्र निकाल रहे हो और इसके नुक़सान में नहीं, नफ़े में भी उतने ही शरीक हो जितना मैं। मैं तो चाहता हूँ कि यहाँ कार्यालय इतना सम्पन्न हो जाये कि हमें किसी प्रकाशक का मुँह न देखना पड़े। हम दोनों मिलकर इसे सफल न बना सकें तो खेद की बात होगी। 'स्टेट्समैन', 'नेशनल कॉल' और कितने ही अंग्रेजी पत्र वहाँ मिल सकते हैं, उनमें से इनफॉर्मेटिव सामग्री दी जा सकती है। दो-चार नोट लिखना मुश्किल नहीं। हाँ, इच्छा होनी चाहिए। मैटर अच्छा होने पर इस पर जनता की निगाह जमेगी। मैं एक पृष्ठ चित्रों का देने की फिक्र में भी हूँ। पुस्तकें लगातार लिखते रहना अपने बस की बात नहीं है। कभी-कभी महीनों काम नहीं होता और न पुस्तकों से इतने रुपये मिल सकते हैं कि उन पर डिपेण्ड किया जा सके। यह भी तो चिन्ता रहती है कि कोई ऊटपटांग चीज न लिख दी जाय। समाचारपत्र तो दूकान है। एक बार चल निकले तो उससे थोड़े परिश्रम में आमदनी हो सकती है, और तब पुस्तक भी लिखी जा सकती है। यह (ठीक बात) है कि मेरी उम्र एक नये व्यवसाय में पड़ने की नहीं है, लेकिन मैं उम्र को और स्वास्थ्य को बाधक नहीं बनाना चाहता। तुम कम से कम दो कॉलम का एक लेख अवश्य दे दिया करो। किसी मामले पर टिप्पणियाँ करना चाहो तो वह भी बैरंग बृहस्पति तक मुझे दे दो।

समाचारपत्रों की आमदनी का दारोमदार विज्ञापनों पर है। मैंने बिड़ला से मिलने को कहा था। अपनी ग़रज से मत मिलो, मेरी ग़रज से मिलो, पत्र दिखाओ, उसकी चर्चा करो। और उनसे ख़ैरात तो कुछ माँगते नहीं। विज्ञापन दिला देने का अनुरोध करो। यह कह सकते हो,

कि इस पत्र को घाटा हो रहा है, और थोड़े से सहारे से यह बहुत उपयोगी हो सकता है। उनके पास कई मिलें हैं, एकाध पृष्ठ का विज्ञापन उनके लिए तो कुछ नहीं है, लेकिन मेरे और तुम्हारे लिए वह बावन रुपये महीना का सहारा है। भाई, यह संसार चुपके-से राम-भरोसे बैठनेवालों के लिए नहीं है। यहाँ तो अंत समय तक (खटना) और लड़ना है। उनसे कुछ मदद पा सकते हो। यहाँ झेंपू और मेरे-जैसे शर्मीले आदमियों का गुज़ारा नहीं। उनके लिए तो कोई स्थान ही नहीं। तुम अपने में यह ऐब न आने दो। है भी नहीं। मैं तो कौड़ी दाम का नहीं हूँ। अखबार निकालना मेरी (हठधर्मी) है। कुछ (ज़िद्दी) हूँ और हार नहीं (मानना) चाहता। खेती करता तो उसमें भी इसी तरह चिमटता।

यहाँ वर्षा कम हुई है। घर के और सब लोग मजे में हैं। दिलीप तो अच्छा है। भगवती से मेरा आशीर्वाद कहना।

भवदीय
धनपतराय

सरस्वती प्रेस,
सितम्बर, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

पत्र मिला। कहानी फिर न भेजी। जून का अंक छप रहा है। तीन दिन के अंदर कहानी आ जानी चाहिए।

'चित्रपट' देखा। अच्छा है। बेटी अच्छी हो रही है। दस दिन में यहाँ आ जायगी। × × × तैयार हो रहा है। बड़े हर्ष की बात है। कब देखूंगा ? 'प्रेम की वेदी' की जिल्द बन रही है।

तुम्हारा
धनपतराय

सोमवार को भेजा जायगा।

[२८]

सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी
२७ सितम्बर, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम बिगड़ रहे होगे कि पत्र क्यों नहीं लिखा। मैंने सोचा था महावीर के लिए ग्राहक-सूची से एक प्रोग्राम बनाकर कुछ रुपये के साथ पत्र लिखूंगा। पर न सूची देखने का अवसर मिला, न रुपये कहीं से आये और मैं एक सप्ताह के लिए प्रयाग चला गया। वहाँ से आया तो घर के लोग प्रयाग चले गये। मैं प्रेस न आ सका। 'चाँद' के लिए एक कहानी लिखनी थी, इधर-उधर के झंझट। रह गया। महावीर आ गये हैं। अभी तो मेरा विचार है उन्हें आसपास के शहरों में भेजने का। जरा बाहर जाने का अभ्यास हो जाय तो सी० पी०, बिहार की ओर भेजूं। आजकल, न जाने क्यों, पुस्तकों की बिक्री बंद है। अब अजमेर में जो मेला लगनेवाला है, उसके कारण दो एक × × × मिले हैं। 'हंस' का 'काशी-अंक' निकल रहा है। सितम्बर के अंक में फिर देर हो गयी। अब अक्टूबर के पहले सप्ताह में जायगा। दो दिन से प्रेस बन्द है। अज्ञेय की यह कहानी बहुत अच्छी थी। उनकी कविताओं के विषय में यहाँ यह राय है कि भाव तो उत्कृष्ट हैं, पर हाथ मंजा हुआ नहीं है। लोग कहते है कविताओं से उनकी कहानियाँ और गद्य-काव्य बढ़कर हैं।

धनपतराय

[२९]

जागरण-कार्यालय,
२४ अक्तूबर, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

मालूम नहीं, महावीर ने तुम्हारे पास कोई खत लिखा था या नहीं, यहाँ तो उनकी कोई खबर नहीं। जिस दिन यहाँ से गए,

उसके तीसरे दिन प्रयाग से खत आया था, फिर कुछ न मालूम हुआ, वहाँ से गये या वहीं हैं। आज चौबीस दिन हो गए, कपड़े-लत्ते सब यहाँ हैं। पुस्तकें जो वह दिल्ली से लाये थे सब यहाँ रखी हुई हैं। विचित्र आदमी हैं। अगर, ईश्वर न करे, कहीं बीमार हो गए तो एक कार्ड तो लिख देना था। मुझे तो मालूम होता है वह सफल न हुए, और शर्म के मारे चुप साध बैठे हैं। इस काम में सफल होने के लिए बड़े अनुभव और बेहयाई की जरूरत है और आदमी भी ऐसा चाहिए जो गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास सह सके। इतना बड़ा कार्यालय तो है नहीं कि अपने एजेंटों को अच्छा अलाउंस या वेतन दे सके, और जितना वह दे सकता है, उससे रोज़ परदेश में नहीं रहा जा सकता। होटल तो छोटे शहरों में होते नहीं और अक्सर पूरियों पर गुजारा करना पड़ता है। महावीर का स्वास्थ्य शायद इन दिक़्क़तों को न झेल सके।

तुमने कई बार रुपये के लिए लिखा है। मैं दिल मसोस कर रह गया। जो कुछ आमदनी होती है वह ऊपर उड़ जाती है। वेतन तो पूरा नहीं पड़ता। काग़ज़ के कई सौ रुपये बाक़ी पड़े हुए हैं। खर्च पाँच सौ रुपये महीने का, आमदनी कुल मिलाकर चार सौ रुपये से ज्यादा नहीं। मैं अपनी खामियों को समझ रहा हूँ। अपनी गलतियों को देख रहा हूँ। पर यह आशा है कि शायद कुछ हो जाय। हिम्मत बाँधे हुए हूँ। इधर एक महाशय फिर एक लिमिटेड प्रकाशन संघ खोलने का विचार कर रहे हैं। मैं भी शरीक हो गया। कुछ लोगों ने हिस्से लेने का वचन भी दिया। मगर वे ऐसे ग़ायब हुए कि कुछ पता ही नहीं, कहाँ हैं। अक्टूबर का 'हंस' काशी-अंक होगा। मगर बीस फ़ॉर्म का निकालना पड़ा और नवम्बर का अंक भी उसमें मिलाना पड़ेगा। इन दोनों अंकों से नाम में दम है। मगर प्रथा ऐसी चलती है कि मोटों के साथ दुर्बल भी पिसे जा रहे हैं। 'चाँद' और 'सरस्वती' विशेषांक निकाल सकते हैं। 'हंस' में दम नहीं है, पर फिर भी

शहीदों में शामिल होना चाहता है। मैंने सोच लिया है जनवरी तक और देखूँगा। अगर उस वक्त 'जागरण' कुछ ढंग पर न आया तो इसे बन्द कर दूँगा। जी तो चाहता है कि 'हंस' का दाम बढ़ाकर पाँच रुपये कर दूँ और एक सौ पृष्ठों का निकालूँ और तुम उसका सम्पादन करो। मैं अलग बैठकर पुस्तकें लिखूँ। ज्यादा काम भी तो नहीं कर सकता। लेकिन शायद मेरी कामनाएँ सब यों ही रह जायँगी। मुश्किल तो यह है कि व्यवसाय में जितना मैं कच्चा हूँ उतने ही तुम भी कच्चे हो! वरना क्या बात है कि ऋषभचरण तो सफल हों और हम लोग असफल रहें। उपन्यास लिखता था, वह भी बन्द है। लेकिन अब ज्यादा प्रतीक्षा न करूँगा। जनवरी तक और देखता हूँ। तुम्हारी सलाह न मानी, वरना इतना घाटा क्यों उठाता! लेकिन कोई काम बंद करते बदनामी होती है और वही लाज ढो रहा हूँ।

'हंस' का विशेषांक निकल रहा है। शायद कुछ रुपये बच जायँगे। उस वक़्त जो भी कुछ हो सकेगा तुम्हारे पास भेजूँगा। मैं तुमसे सच कहता हूँ, प्रेस और पत्रों पर मैं मरा जा रहा हूँ। कुछ लेखों से, कुछ रॉयल्टियों से, कुछ उर्दू-पुस्तकों से अपना गुज़र कर रहा हूँ। लेकिन बहुत देख चुका, अब यह तमाम बन्द करूँगा।

घर में सब लोग कुशल से हैं। 'कर्मभूमि' का उर्दू-अनुवाद जामिया मिल्लिया से शायद निकल जाय।

और क्या लिखूँ! आशा है तुम प्रसन्न हो।

सप्रेम तुम्हारा
धनपतराय

[३०]

सरस्वती प्रेस
२८ नवम्बर, १९३३

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र अभी मिला। प्रयाग से तुमने क्या बाद में पत्र

[३१]

सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी
१२ दिसम्बर, १६३३

प्रिय जैनेन्द्र,

कल एक पत्र लिख चुका हूँ। प्रसादजी के एक मित्र यह जानने के लिए बड़े उत्सुक हैं कि 'घावर्पण' निकल रहा है या नहीं, और यदि नहीं निकल रहा है तो क्यों ? पहले अंक में उसका कैसा स्वागत हुआ ? क्या उसके संचालक उसे निकालना चाहते हैं ? अगर किसी कारण से वे न निकालना चाहते हों तो क्या वे उसके निकालने का अधिकार किसी दूसरे को देंगे ?

कृपा करके इसका जवाब लौटती डाक से दे देना। वह महाशय दिल्ली से एक पत्रिका निकालने की बात सोच रहे हैं और 'घावर्पण' मिल जाय तो उसे ही ले लेंगे।

भवदीय
धनपतराय

[३२]

सरस्वती प्रेस,
१६ दिसम्बर, १६३३

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र कई दिन हुए, मिल गया था। उसके पहले वाला इलाहाबाद का पत्र भी क़ागजों में खोजने से मिल गया।

'जागरण' साबिक दस्तूर चल रहा है। बा० सम्पूर्णानन्द को शायद उनके मित्रों ने मदद नहीं दी। अब मैं उसको बन्द करने की फिक्र में हूँ। उसके पृष्ठ घटा दिये हैं। इस रूप में शायद इससे ज्यादा नुकसान नहीं है। फिर भी झंझट तो है ही।

'हंस' की तुम्हारी स्कीम साहस चाहती है, और जो इस वक़्त हालत है उसमें यह स्कीम बड़ी मुश्किल से चलेगी। काग़ज़वालों

के काफ़ी रुपये बाक़ी हैं और कोई (नयी) चाल चलने की हिम्मत नहीं पड़ती। नयी स्कीम के अनुसार तुरन्त ही तीन हज़ार रुपये महीने का खर्च बढ़ जाता है। पहले से पाठकों को कुछ कहा भी नहीं गया, और एक बार के कहने से कोई असर भी न पड़ेगा। बार-बार कहने की जरूरत है। इसलिए इन छ. महीनों में तो हमें ज़मीन तैयार करनी चाहिए। अभी मुझे कोई स्कीम पेश करने का मुँह भी तो नहीं है। अक्टूबर-नवम्बर का संयुक्त अंक अभी नहीं निकला, आज छः दिसम्बर भी हो गई, अभी पाँच-छः दिन से कम न लगेंगे। मेरी दशा में पाठकों से सहानुभूति-सहयोग की आशा मैं नहीं करता। आधे वी० पी० कहीं लौट आवें, भय तो यह है। सारा दारोमदार वी० पी० पर है। अगर इससे कुछ बोझ हलका होगा तो फिर साहस बढ़ेगा। दिसम्बर का अंक अधिक से अधिक दस तक निकाल देना चाहता हूँ। यह सब हो जाय तो अप्रैल से आकार बढ़ाने की बात चले।

महावीर अभी पटने में ही है। उसने पुस्तकों के आर्डर भेजे थे; पर सब बाहर की पुस्तकें हैं और कितनी ही यहाँ मिलती भी नहीं। और उन पर कमीशन भी बहुत कम मिलता है। मैंने उनसे पूछा है कि क्या कमीशन देने का वचन दे चुके हैं। जवाब आने पर पुस्तकें जमा करके भेजी जायँगी।

'सेवासदन' के विषय में तुमने पूछा। बम्बई की एक कम्पनी ने कुछ बातचीत की थी। उसी का यह तूमार बाँध दिया। उन्होंने मुझे सात सौ पचास आफ़र भी किया था। मैंने सात सौ पचास ही बहुत समझा, मंजूर कर लिया, लेकिन रुपये नहीं मिले।

'कर्मभूमि' के अनुवाद के चार सौ रुपये एक गुजराती प्रकाशक से तय हुए थे। दीवाली के बाद रुपये भेजने का वायदा था। मगर वह भी चुप साध गया। दो ख़त भी लिखे, जवाब नदारद।

और भी कई जगह से रुपया मिलने की आशा थी। पर कहीं से कोई ख़बर नहीं है। इससे कोई रिस्की काम करते और भी

हिचकता हूँ।

और तो कोई नई बात नहीं है। सटर-पटर चला जाता है।

तुम्हारा
धनपतराय

[३३]

जागरण-आफ़िस
१४ फरवरी, १६३४

प्रिय जैनेन्द्र,

नहीं जानता तुमसे किन शब्दों में क्षमा माँगू और अपनी चुप्पी का क्या बहाना करूँ! काशी-अंक निकला, चार सौ वी० पी० गये, एक सौ पचहत्तर वसूल हुए, दो सौ पच्चीस वापस आये। बस, बधिया बैठ गयी। मेरा अन्दाजा था कि तीन सौ वी० पी० जरूर वसूल होंगे। इस वापसी का नतीजा यह कि काग़जवाले को तेरह सौ में कुल तीन सौ दे सका। एक हजार पूरे उसके सर पर सवार हैं। 'जागरण' के काग़जवाले का भी एक हजार रुपये से कुछ ऊपर ही चढ़ा हुआ है; जो-जो बातें सोची थीं, वे सब गायब हो गईं। ऐसी माली हालत में क्या कोई प्रोग्राम बाँधूं, क्या करूँ? तुम्हें मालूम होगा, कुछ दिनों से लीडर प्रेसवालों से इस सारे संकट को मिटा देने का प्रस्ताव था। बीच में वह प्रस्ताव स्थगित कर दिया था। पर जब ऐसी परिस्थिति आ पड़ी है तो अब इसके सिवा कोई राह नहीं है कि किसी तरह इस झगड़े से गला छुड़ाकर भाग निकलूं। लीडर को एक प्रस्ताव लिख भेजा है, वे यहाँ १८ को आनेवाले है। आशा करता हूँ कि उस दिन यह मामला तय हो जायगा। पहले इरादा था कि 'हंस' उन्हें दे दूँ और प्रेस चलाता रहूँ। लेकिन सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है। न जाने किस बुरी साइत में इसकी बुनियाद पड़ी थी। दस हज़ार रुपये और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गयीं। इसी

प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वायदा-खिलाफ़ी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने-पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ़ देखने में कटा। मेरी ज़िन्दगी की यह सबसे बड़ी ग़लती है।

महावीर प्रसाद ने कुछ किताबें बेचीं। १३०) लाये भी थे, फिर पटना वापस गये और इधर कुछ हाल-हवाल नहीं लिखा। मालूम हुआ कि दिलीप के काम में शरीक है। तीन सौ की नयी किताबें बुकसेलरों को दे चुके हैं। वसूल भी कर पाते हैं या वह भी डूबता है, राम जाने!

लाहौर में मेरे लगभग १००० रु० उर्दू-किताबों के बाक़ी थे। बरसों के तक़ाज़े के बाद अब मालूम हुआ है कि उनसे रुपये वसूल नहीं हो सकते। नालिश करने पर शायद कुछ निकले।

एक खुशख़बरी यही है कि सेवासदन का फ़िल्म हो रहा है। उस पर मुझे ७५०) मिले। अगर इस तंगी में ये रुपये न मिल जाते तो न जाने क्या दशा होती, ईश्वर ही जाने। लेकिन तंगी में जब कोई रक़म हाथ आ जाती है तो वे सारी जरूरतें जो मुँह दबाये पड़ी थीं, यकायक चीख मारने लगती हैं। किसी के पास कपड़े नहीं हैं, किसी के पास जूते नहीं हैं। किसी की लड़की की शादी के लिए कुछ देना चाहिए। ग़रज़, वे रुपये दो-चार दिन में हवा हो जाते हैं। वही यहाँ हो रहा है। उसी में तुम्हारा भी थोड़ा-सा हिस्सा है।

लीडर से अगर बातचीत तय हो गयी तो मैं प्रस्ताव करूँगा कि वह तुम्हें 'हंस' का एडीटर बना दें। वे लोग इसे ज्यादा शान के साथ निकाल सकेंगे और तुम्हें अपने विचारों को कार्यरूप में लाने का अवसर मिल जायगा। मैं एकान्त में बैठकर कुछ थोड़ा-बहुत लिख लिया करूँगा। इस झमेले में तो लिखना एक तरह से बन्द ही हो गया। तब तुम्हारी पुस्तकें झट से निकलेंगी और उन पर रॉयल्टी मिलेगी।

और क्या लिखूँ! बारह दिन बम्बई रहा। प्रेमीजी से मिला। उनके यहाँ भोजन किया। बेचारे बहुत बीमार थे। मर कर जिये।

अब भी बहुत कमज़ोर हैं। इसके बाद जो पत्र लिखूँगा, उसमें यहाँ के डिवलपमेंट का पूरा वृत्तान्त होगा। भुवनेश्वरजी खूब लिखते हैं और साहित्य के रसिक हैं।

तुम्हारा
धनपतराय

[३४]

सरस्वती प्रेस, बनारस सिटी
१६ अप्रैल, १६३४

प्रिय जैनेन्द्र,

पत्र लिखने ही जा रहा था कि तुम्हारा खत मिल गया। मैंने × × × जी को पत्र लिखा था और जिस रूप में उन्होंने स्कीम को मेरे सामने रखा था वह मुझे इस वजह से पसंद आयी थी कि उसमें × × × की कोई परेशानी नहीं थी। जमा-जमाया काम था। केवल ज़िम्मेदारी मेरे सर से हट जाती थी, लेकिन उनका जो जवाब आया है वह कुछ सन्तोष के लायक नहीं है। खैर! मैं तो (इस काम से) तंग आ गया हूँ और कोई सहयोगी खोज रहा हूँ। केवल साहित्यिक सहयोगी नहीं, बल्कि कारोबारी भी। अगर तुम्हें साहित्यिक और किसी बिजनेसमैन या कारोबारी का सहयोग प्राप्त हो जाय तो मैं अपने सर से बोझ टालकर हट जाऊँ। अगर वात्स्यायनजी भी मिल जायँ तो और भी अच्छा। डरता यही हूँ कि यहाँ से (भागकर) दिल्ली पहुँचूँ और वहाँ भी यही रोना रहे, तो अफसोस हो कि नाहक आये।

देशबन्धुजी वाले प्रपोज़ल को क्यों तुमने अस्वीकार कर दिया? अगर पक्के (कागज) की शर्तों पर काम किया जाय तो कोई वजह नहीं कि हमें धोखा हो। किसी की पर्सनैलिटी से क्यों झिझक? हमें तो काम करने के लिए सहयोग चाहिए। वह जहाँ से भी मिले, उसे ले लो। देशबन्धु बिजनेसमैन हैं, इसमें तो संदेह है ही नहीं।

लीडरवालों ने अभी तक कोई जवाब नहीं दिया। यही २० तारीख उनके फ़ैसले की है। अगर डाइरेक्टरों ने अनुकूल राय दी तो काम हो जायगा। इसीलिए अभी तक मैंने अप्रैल का 'हंस' प्रेस में नहीं दिया। उनका जवाब मिल जाने पर 'हंस' प्रेस में जायगा।

अलीगढ़ में दावतें खाने के सिवाय और कुछ न हुआ। हमारी स्कीम को लोगों ने पसन्द तो बहुत किया मगर उन दिनों यूनिवर्सिटी बन्द थी और ओल्ड ब्वायज ऐसोसिशएन के जल्से हो रहे थे। इससे कुछ बोलने का अवसर न मिला। उन लोगों ने जिस तरह मेरा स्वागत किया, उससे मेरा चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। मुझे आश्चर्य हुआ कि वहाँ कितनी ही मुस्लिम लड़कियाँ परदा नहीं करतीं और वे सब मेरी नयी से नयी उर्दू में प्रकाशित किताब 'ग़बन' पढ़ चुकी थी। मैंने पुलाव और गोश्त खाया, उन्हीं के दस्तरख्वान पर, और यहाँ आकर दो-तीन दिन चूरन खाना पड़ा। और क्या लिखूँ, काम चला जा रहा है। 'हंस' के लिए कुछ लिख भेजो। अगर यहाँ से निकला तो दे दूँगा। प्रयाग से निकला तो वहाँ भेज दूँगा।

महावीर प्रसाद का कोई पत्र नहीं आया। चार महीने हो गये। कई सौ की पुस्तकें इधर-उधर डाल दी हैं। न कुछ पता लिखा, कि याद-दिहानी करता। कुछ किताबें पटने में डाल दी हैं, कुछ कहीं। उन्हीं किताबों के लिए पटने से यहाँ आये थे। यहाँ से प्रयाग गये थे। फिर पटने गये थे। जल्दी-जल्दी किताबें जमा कीं, लेकिन वह खामोश हो गये। रिलीफ़ वर्क तो बहुत अच्छा है, लेकिन कुछ अपनी जिम्मेदारी का ख़याल भी तो होना चाहिए। मेरे रुपये 'चाँद' पर आते हैं, कुछ उनसे तक़ाज़ा करता, लेकिन अब उल्टे मैं उनका देनदार हूँ। तुम उन्हें एक पत्र लिखकर ताक़ीद कर दो कि जो पुस्तकें न बिक सकी हों, उनका हिसाब लिख भेजें। हिसाब बड़ा गोलमाल है। ३००) से ऊपर की पुस्तकें उनके पास होंगी। आशा थी, कुछ उधर से आयेगा तो काग़ज़ का बिल कम होगा, मगर व्यर्थ।

लाजपत राय को मैंने खत लिखा। उसने जवाब नहीं दिया। मैंने यहां तक लिखा था कि थोड़ा-थोड़ा दे दो; लेकिन जब कोई पत्रों का जवाब ही न दे तो क्या किया जाय ? अगर तुम जाओ तो पत्र दिखाकर उनसे साफ़-साफ़ जवाब लेना, वह किस तरह सफ़ाई चाहते हैं। ८०० रु० का मामला है। यहां मेरे सर पर क़र्ज है और वहां एक-एक आसामी इतनी-इतनी रक़में दबाये बैठा है। क्या वह यही चाहता है कि हम लोग अदालत में आमने-सामने खड़े हों। भला आदमी खत का जवाब नहीं देता। मजबूर होकर रजिस्टर्ड नोटिस देना पड़ेगा। शेष कुशल।

तुम्हारा
धनपतराय

[३५]

हंस-आफिस
३० अप्रैल, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र ऐन इन्तजार की हालत में मिला। तुमसे सलाह करने की एक खास जरूरत आ पड़ी है। अभी न बताऊँगा। जब आओगे, तभी इस विषय में बातें होंगी। मगर अब तुम्हें क्यों सस-पेन्स की हालत में रखूं। बम्बई की एक फ़िल्म कम्पनी मुझे बुला रही है। वेतन की बात नहीं, कंट्रैक्ट की बात है—८०००) साल। मैं उस अवस्था को पहुंच गया हूं जब मेरे लिए हां के सिवा कोई उपाय नहीं रह गया कि या तो वहां चला जाऊं या अपने उपन्यास को बाजार में बेचूं। मैं इस विषय में तुम्हारी राय जरूरी समझता हूं। कम्पनीवाले हाजरी की कोई क़ैद नहीं रखते। मैं जो चाहे लिखूं, उनके लिए चार-पांच सीनरियो तैयार कर दूं। मैं सोचता हूं, क्यों न एक साल के लिए चला जाऊं ! वहां साल भर रहने के बाद कुछ ऐसा कंट्रैक्ट कर लूंगा कि मैं यहीं बैठे-बैठे तीन चार कहा-नियां लिख दिया करूं और चार-पांच हजार रुपये मिल जाया करें।

उससे 'जागरण' और 'हंस' दोनों मजे से चलेंगे और पैसों का संकट कट जायगा। फिर हमारी दोनों की चीजें धड़ल्ले से निकलेंगी, लेकिन तुम यहाँ आ जाओगे तो क़तई राय होगी। अभी तो मन दौड़ा रहा हूँ।

तुम्हारी स्कीम मुझे बिलकुल पसन्द है। खूब पसन्द है। लीडर से जवाब मिल गया, वे लोग हिन्दी काम को नहीं बढ़ाना चाहते। उनके जवाब के इन्तजार में अप्रैल का 'हंस' २२ तक रुका रहा। २४ को जवाब मिला, तब लेख जुटाये गए और अब अप्रैल और मई का 'हंस' एक साथ छपकर १५-२० मई तक रवाना होगा।

लीडरवालों से बातचीत इस आधार पर थी कि 'हंस' का और पुस्तकों का मूल्य जोड़ लिया जाय और उतने ही हिस्से मुझे लीडर कम्पनी में मिल जायँ। 'हंस' के लिए मैंने दो हजार माँगे थे, हालांकि इस पर मैं ४०००) से ज्यादा भेंट कर चुका हूँ। पुस्तकों का मामला साफ़ है। पुस्तकों की असली लागत निकाल ली जाय। 'जागरण' को चलाना मंजूर हो तो इसे चलाया जाय। अच्छा सोशलिस्ट पत्र बना दिया जाय। रहा प्रेस, यहाँ रहे या कहीं और, मुझे इसमें कोई ऐतराज नहीं। हाँ, काम ऐसे हाथों में हो जो महज ड्रीमर्स न हों, जैसा मैं हूँ और तुम हो, बल्कि कुछ व्यावसायिक बुद्धि भी रखते हों। काशी में भी सुभीता है, क्योंकि प्रेस चला-चलाया है। यहाँ लोगों से बड़ी आसानी से सहयोग मिल सकता है। कुछ बँधे-बँधाए ग्राहक भी हैं। सम्भव है, धन आते देख कर यहाँ भी कुछ लोग रुपये लगाने पर तैयार हो जायँ। अगर हम तीन आदमी और कृष्णचन्द्रजी ही मिल जायँ तो क्या कहना! मैं हर तरह से सहयोग देने को तैयार हूँ। शेष कुशल है, बच्चे मजे में हैं।

बच्चों को आशीर्वाद!

तुम्हारा
धनपतराय

[३६]

सरस्वती प्रेस,
८ मई, १६३४

प्रिय जैनेन्द्र,

भले आदमी, मकान छोड़ा था तो डाकिए से इतना तो कह दिया होता कि मेरी चिट्ठियाँ फ़लाँ पते पर भेज देना। बस, बोरिया-बिस्तर सँभाला और चल खड़े हुए। मैंने तुम्हारे जवाब में एक बड़ा-सा डिटेल्ड खत लिखा था। वह शायद मुर्दा चिट्ठियों के दफ़्तर में पड़ा होगा। लीडरवालों से सौदा ठीक नहीं हुआ। वे लोग हिन्दी का काम लाभ की बात नहीं समझते, और कारोबार बढ़ाना नहीं चाहते। 'हंस' को (रोके) रहा। मगर अब अप्रैल और मई का, संयुक्त अंक, निकल रहा है। तुम्हारी कहानी का इन्तजार है।

मैं वात्स्यायनजी के प्रस्ताव को दिल से स्वीकार करता हूँ। अगर ५०००) और वात्स्यायनजी और तुम आ मिलो तो बहुत बड़ा काम हो जाय। मैं हर तरह से तैयार हूँ। यही चाहता हूँ कि जो काम शुरू किया गया है वह बन्द न हो, उसकी उपयोगिता बढ़े और वह एक संस्था बन जाए। तुमने आने की बात लिखी थी। बहुत जरूरी है। लिखा-पढ़ी से तय न होगी। मेरी तरफ़ से बिल्कुल हिचक नहीं है। हाँ, अगर काशी से काम चले तो कई तरह से सुभीता है। यहाँ प्रेस चला-चलाया है। कुछ पत्रों का प्रचार बढ़ जाय, और आमदनी ज्यादा हो जाय, तो प्रेस को बाहरी काम करने की ज्यादा फ़ुरसत ही न रहेगी और प्रेस को बढ़ाना पड़ेगा। 'हंस' अगर २००० छपे और 'जाग[illegible] तो प्रेस को और कोई काम करने की जरूरत नहीं। अ[illegible] ाल भर में ५०-६० फ़ॉर्म छाप लेगा। हाँ, बिजली [illegible] काम हो सकेगा। यहाँ सहयोग भी [illegible] बस, एक प्राइवेट लिमिटेड [illegible] हिस्से का काम करें।

में रहूँगा। आओ जल्द। लेकिन कुछ निश्चय हो गया हो तब। मुफ़्त में किराया देने के पक्ष में मैं नहीं हूँ। मुलाक़ात तो पत्रों से ही हो जाती है और पत्र न भी आयें तो भी मैं तुम्हें अपने समीप पाता हूँ।

मुझे एक बम्बई की कम्पनी बुला रही है। क्या सलाह है? मुझे तो कोई हरज नही मालूम होता, अगर वेतन सात-आठ सौ मिले। साल-दो साल करके चला आऊँगा। मगर अभी मैंने जवाब नहीं दिया है।। उसके दो तार आ चुके हैं। प्रसादजी की सलाह है, आप बम्बई न जायें। तुम्हारी भी अगर यही राय है तो मैं न जाऊँगा। जौहरीजी कहते है जरूर जाइए और चिरसंगिनी दरिद्रता भी कहती है, चलो। जीवन का यह भी एक अनुभव है।

महावीर का कोई पत्र नहीं। एक बम्बई के सज्जन भी × × × से यहाँ आए थे। महावीर से उनका सम्पर्क रहता था। वह तो उनसे कुछ इम्प्रेस्ड नहीं हुए।

मुझे कल बुखार आ गया। आज भी थोड़ा है। मगर यों चंगा हूँ। चिन्ता की बात नहीं।

और तो कोई नई बात नहीं। × × ने सलाह-मशविरा × × उस मुआमले को तूल दिया। खैर, तुम्हारी × × मुझे पसंद आई।

तुम्हारा
धनपतराय

[३७]

अजंटा सिनेटोन लि०, परेल, बम्बई
१५ जून, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

कार्ड मिला। मैं कुछ ऐसा परेशान रहा कि इच्छा होने पर भी पत्र न लिख सका। पहली को आ गया, मकान ले लिया, -

में होटल में खाता हूँ और पड़ा हूँ। यहाँ दुनिया दूसरी है, यहाँ की कसौटी दूसरी है। अभी तो समझने की कोशिश कर रहा हूँ, इस विषय की किताबें पढ़ रहा हूँ। लिखा कुछ नहीं। जुलाई में घर के लोग, धुन्नू को छोड़कर, आ जायेंगे। साल भर किसी तरह काटूँगा, आगे देखी जायगी।

तुमने तो जैसे लिखने की क़सम खा ली। 'हंस' में कुछ न लिखा। महीने में दो-तीन कहानियाँ लिखना तुम्हारे लिए क्या मुश्किल है! एक 'हंस' को दे दो, एक 'भारती' को दे दो और एक 'चाँद' या 'विशाल भारत' को। भाई! आइडियलिस्ट बनने से काम न चलेगा। चिड़ियाँ उड़ती आसमान पर हैं, लेकिन भोजन के लिए धरती पर ही आती हैं। जुलाई के लिए कहानी अवश्य भेजो। यहाँ वर्षा हो गई है और बड़ा अच्छा मौसम है।

हाँ! 'हंस' के लिए कुछ साहित्यिक नोट क्यों नहीं लिख दिया करते! हिन्दुस्तान टाइम्स में सारी दुनिया की पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं, उनमें साहित्योत्तेजक चीज़ें मिल सकती हैं। छः-सात पृष्ठों की कहानी, तीन-चार पृष्ठों की टिप्पणियाँ। इतना 'हंस' के लिए करते जाओ और माहवार हिसाब साफ़ कर दिया करूँगा। आज नहीं तो कल, यह पत्र तुम्हारे हाथ में जायगा ही। शेष कुशल।

धनपतराय

[३८]

अजंटा सिनेटोन लि०, परेल, बंबई १२,
१ जुलाई, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

पत्र मिला था। आशा है, तुमने अपनी और 'अज्ञेय' जी की कहानियाँ भेज दी होंगी। अगर नहीं भेजी हों तो अब जुलाई-नंबर के लिए जल्द से जल्द भेज दो। विलम्ब भी उन कारणों में एक है जो 'हंस' को उठने नहीं देते।



दाईं ओर से क्रमशः सर्वश्री जैनेन्द्र (सिर का पृष्ट भाग) प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, कृष्णदेव प्रसाद गौड़, सम्पूर्णानन्द, जवाहरलाल नेहरू, कमला नेहरू, जयशंकर प्रसाद, सन् १९३४

मैं मजे में हूँ। एक स्टोरी लिख डाली। जा रही है। दूसरी शुरू कर रहा हूँ। तुम्हारे जेहन में कोई प्लाट हो तो एक खुलासा भेज दो। यहाँ कई डाइरेक्टरों से जान-पहचान हो गई है। संभव है, कहीं निकल जाय। बहुत-से सड़ियल लोगों की चीजें निकलती हैं तो फिर तुम्हारी क्यों न निकलेंगी?

रात-दिन वर्षा! नाकों दम है। महावीर पहुँच गया या नहीं? प्रवासीलाल ने लिखा था, कोई हिसाब नहीं दिया। जरा याद दिला देना। क़ागज का पेट तो भरना ही चाहिए।

सप्रेम
धनपतराय

[३६]

अजंटा सिनेटोन, परेल, बम्बई १२
३ अगस्त, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

पत्र मिला। मैं २३ को बनारस गया था। ३१ को वापस आया। बेटी और उसकी माँ को लेता आया। लड़कों को प्रयाग, कायस्थ पाठशाला में भरती करा दिया। तुम्हारा लेख, कहानी, 'अज्ञेय' जी की कहानी और मेरी कहानी—सब छप रही हैं।

सिनेमा के लिए कहानियाँ लिखना मुश्किल हो रहा है, लेकिन जरूरत ऐसी कहानियों की है जो खेली भी जा सकें, जो ऐक्टरों के लिए सुलभ हों। कितनी ही अच्छी कहानी हो, अगर योग्य पात्र न मिलें तो वह कौन खेलेगा? अद्‌भुत की जरूरत मैं नहीं समझता। मेरी दोनों कहानियाँ साधारण हैं। अगर तुम (कोई) चीज़ लिखो तो यहाँ (कुछ प्रबन्ध) हो सकता है। पहले सिनॉपसिस ही लिख भेजो। उससे कहानी के प्लाट का अन्दाजा हो जायगा।

'जागरण' (सोशलिस्ट) पेपर हो गया है। काशी में बा०

सम्पूर्णानन्द से जो बातें हुईं उनसे मालूम हुआ कि वह एक (पत्र) निकालना चाहते हैं। बड़ा अच्छा है किसी तरह (निकल) जाय, तो मेरे सर से एक बला टले। तुमने 'अज्ञेय' जी के साथ पत्र निकालने का विचार क्यों छोड़ दिया ?

मैं सकुशल हूँ।

तुम्हारा
धनपतराय

[४०]

अजंटा सिनेटोन, परेल, बम्बई १२
८ सितम्बर, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

आशा है, तुम कुशल से हो। आजकल क्या कर रहे हो ? लिखने-पढ़ने की क्या खबर है ? मैं तो जैसे (अपाहिज) हो गया हूँ। 'हंस' के लिए एक चीज लिखना भी मुश्किल है। तुमने अपनी कहानी और मि० अज्ञेय की भेज दी होगी। सितम्बर का अंक १५ तक निकाल देने का इरादा है। एक दिन प्रेमीजी के बेटे हेमचन्द आए थे। अच्छी-अच्छी पुस्तकों के बहुत सस्ते एडीशन निकालने की स्कीम सोच रहे हैं। चार-पांच आने में दस फ़ॉर्म की किताब देंगे और दस हज़ार के एडीशन निकालेंगे। देखें, स्कीम पूरी होती है या यूँ ही रह जाती है। मैंने सुना है, जोशी-बन्धुओं ने' विश्व-मित्र' से सम्बन्ध तोड़ लिया है।

अगर तुमने अपनी कहानी न भेजी हो तो अब अवश्य भेज दो।

और तो कुशल है।

आपका
धनपतराय

[४१]

अजंटा सिनेटोन, बम्बई १२
२९ सितम्बर, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

अभी तुम्हारा पत्र मिला। जवाब दे दिया है। नाहक पैसे खराब किये। मैं तुम्हारी राय के बगैर कभी यह सौदा न करता। बात यों है कि प्रेस में घाटा तो है ही। तीन महीनों की प्रेसवालों की मजदूरी बाकी पड़ी है। जून की भी अगस्त में दे सका हूँ। और जुलाई-अगस्त के लिए अक्तूबर का वादा था, जब 'हंस' के वी० पी० जायँगे। इसी बीच में प्रेसवालों ने एक कर्मचारी का जोर पाकर हड़ताल कर दी। मैंने सोचा, तीन महीने की मजदूरी १००० रु० से कम न होगी। कागजवालों के भी २००० रु० देने हैं। क्यों न 'हंस' और स्टॉक किसी को देकर, जिसने माँगा भी था, और सब बकाया चुकाकर प्रेस से हमेशा के लिए रिहा हुआ जाय। मैंने दो-तीन जगह पत्र लिखे। एक पत्र ज्ञानमंडल को भी लिखा। स्टॉक लेना तो सबने स्वीकार किया, पर 'हंस' पर कोई न राजी हुआ। इस बीच में हड़ताल टूट गयी। एक महीने का वेतन लेकर सब काम करने आ गये। अब दो महीने का बकाया है और। कागजवालों को भी कुछ दाम दे दिये। 'जागरण' बन्द कर दिया। अब आशा है, काम साधारण तौर पर चलता रहेगा। 'हंस' के ५५० वी० पी० जाएँगे। अगर ३०० वसूल हो जायँ तो मजदूरी साफ हो जाय और कुछ कागजवालों को दे दूँ। 'जागरण' ने कम से कम ४००० रु० की चपत दी—बेढब चपत। 'हंस' का अक्तूबर-अंक निकल रहा है। तुम्हारी और 'अज्ञेय' जी की कोई कहानी अब तक नहीं आयी। क्यों? अब मैं चाहता हूँ कि इस साल 'हंस' को ठीक करके अगले साल से ६ रु० का कर दूँ। दाम बढ़ाने के पहले साल भर तक पत्र को ठीक समय पर और अच्छे रूप में निकालकर

रुद्रनारायण अग्रवाल को तो जानते हो, वही युवक जो दिल्ली में कई बार मुझसे मिलने आया था, जिसके घर एक दिन मैं न्योता खाने भी गया था, परसों उसका पत्र मिला। तपेदिक हो गया और लखनऊ के टी० बी० अस्पताल में पड़ा है। कोई सहायक नहीं, कोई हमदर्द नहीं। ऐसे मेहनती और प्रतिभा के धनी आदमी कम होंगे। वार एंड पीस, रिजरेक्शन, वेनिटी फ़ेयर आदि पुस्तकों के अनुवाद कर डाले, लेकिन रिजरेक्शन के सिवा कोई पुस्तक न छपी, प्रकाशकों के पास पड़ी हुई हैं, और आज वह ग़रीब मर रहा है। यह है अभागे साहित्य-सेवियों का हाल!

प्रयाग में 'लेखक संघ' का विवरण तुम्हें मिला होगा। बहुत-से साहित्यिक उसमें मिल गये हैं, लेकिन कोई दिमाग वाला आदमी अभी नजर नहीं आता। यूँ हमारे यहाँ दिमाग़ वाले आदमी हैं ही कितने! तुम इस संघ में आ मिलो और ऐक्टिव इंट्रेस्ट लो तो शायद कुछ हो। मेरा नाम सभापति के लिए पेश किया गया है। मेरे-जैसा सभापति जिस संस्था का हो, वह क्या होगी! मैंने डा० भगवानदास, पं० वेंकटेशनारायण तिवारी या पं० नरेन्द्रदेवजी का नाम प्रपोज किया है।

फ़िल्मी हाल क्या लिखूँ! 'मिल' यहाँ पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नजर नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये है उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को ये लोग एंटरटेनमेंट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नक़ली लड़ाई, बोसेबाजी यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे; लेकिन उनको फ़िल्म करते इन लोगों को सदेह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। क़र्जदार हो गया था। क़र्ज़ा पटा दूंगा। मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास के अंतिम

चाहिए। अगर एक हजार ग्राहक ५ रु० के हो जायँ तो फिर उधर से निश्चिंत हो जाऊँ। दिल्ली में कई महिलाएँ भी लिखती हैं; एकाध से 'हंस' के लिए लेख लो।

यहाँ कांग्रेस में आ रहे हो न ? कांग्रेस तो अब बेजान-सी चीज होती जा रही है। मगर तमाशा तो रहेगा ही।

एक दिन हिमांशु राय से मिला था। वह कोई स्टोरी चाहते थे—पौराणिक हो या सामाजिक। अगर कोई स्टोरी ख़याल में हो तो उसका दो पेज का सिनॉपसिस लिख भेजो। मैं उनसे जाकर मिलूंगा और दे दूंगा। अगर जँच गयी तो बड़ा काम हो जायगा।

शेष कुशल। बच्चों को प्यार। भगवती देवी से मेरा आशीर्वाद कहना। और कहानी जरूर बिल जरूर लिखना। प्रसादजी से भी कहानी मांगी है। शायद दे भी दें।

तुम्हारा
धनपतराय

[४२]

अजंटा सिनेटोन, परेल, बम्बई १२
२८ नवम्बर, १९३४

प्रिय जैनेन्द्र,

इधर बहुत दिनों से तुम्हारा कोई पत्र नहीं मिला। आशा है, अब तुम स्वस्थ हो। प्रवासीलालजी से मालूम हुआ, तुम्हारी कोई कहानी 'हंस' के लिए आई है। बड़ी खुशी हुई।

साहित्य सम्मेलनवालों ने मुझसे उपन्यास-कला पर एक लेख लिखने को कहा है, जो साहित्य-परिषद् में पढ़ा जाय। मैंने तो लिख दिया, मुझे ऐसे लेखों की उपयोगिता में विश्वास नहीं। जिनमें प्रतिभा है वे आप लिखने लगते हैं, जैसे बतख का बच्चा तैरने लगता है। जिनमें प्रतिभा नहीं, उन्हें लाख कला का उपदेश कीजिये, कुछ नहीं कर सकते।

रुद्रनारायण अग्रवाल को तो जानते हो, वही युवक जो दिल्ली में कई बार मुझसे मिलने आया था, जिसके घर एक दिन मैं न्योता खाने भी गया था, परसों उसका पत्र मिला। तपेदिक हो गया और लखनऊ के टी० बी० अस्पताल में पड़ा है। कोई सहायक नहीं, कोई हमदर्द नहीं। ऐसे मेहनती और प्रतिभा के धनी आदमी कम होंगे। वार एंड पीस, रिजरेक्शन, वेनिटी फ़ेयर आदि पुस्तकों के अनुवाद कर डाले, लेकिन रिज़रेक्शन के सिवा कोई पुस्तक न छपी, प्रकाशकों के पास पड़ी हुई हैं, और आज वह ग़रीब मर रहा है। यह है अभागे साहित्य-सेवियों का हाल !

प्रयाग में 'लेखक संघ' का विवरण तुम्हें मिला होगा। बहुत-से साहित्यिक उसमें मिल गये हैं, लेकिन कोई दिमाग़ वाला आदमी अभी नज़र नहीं आता। यूँ हमारे यहाँ दिमाग़ वाले आदमी हैं ही कितने ! तुम इस संघ में आ मिलो और ऐक्टिव इंट्रेस्ट लो तो शायद कुछ हो। मेरा नाम सभापति के लिए पेश किया गया है। मेरे-जैसा सभापति जिस संस्था का हो, वह क्या होगी ! मैंने डा० भगवानदास, पं० वेंकटेशनारायण तिवारी या पं० नरेन्द्रदेवजी का नाम प्रपोज़ किया है।

फ़िल्मी हाल क्या लिखूं ! 'मिल' यहाँ पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था, उनमें एक भी पूरा होता नज़र नहीं आता। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आये हैं उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। वल्गैरिटी को ये लोग एंटरटेनमेंट वैल्यू कहते हैं। अद्भुत ही में इनका विश्वास है। राजा-रानी, उनके मंत्रियों के षड्यंत्र, नक़ली लड़ाई, बोसेबाज़ी यही इनके मुख्य साधन हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे; लेकिन उनको फिल्म करते इन लोगों को संदेह होता है कि चले या न चले। यह साल तो पूरा करना है ही। क़र्ज़दार हो गया था। क़र्ज़ा पटा दूंगा। मगर और कोई लाभ नहीं। उपन्यास के अंतिम

पृष्ठ लिखने बाक़ी हैं, उधर मन ही नहीं जाता। यहाँ से छुट्टी पाकर अपने पुराने अड्डे पर जा बैठूं। वहाँ धन नहीं है मगर संतोष अवश्य है। यहाँ तो जान पड़ता है कि जीवन नष्ट कर रहा हूँ।

सेठ गोविन्ददासजी यहाँ आये हुए हैं। उनकी भी सिनेमा कम्पनी खुली है। महावीर कहाँ हैं?

और सब कुशल है।

सप्रेम
धनपत

[४३]

१८६, सरस्वती-सदन, दादर, बम्बई १४
७ फरवरी, १९३५

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। हाँ, इधर मैंने तुम्हें कोई पत्र न लिखा। ऋषभजी आये थे। उनसे तुम्हारी खैरियत का हाल मिल गया था। कुछ ऐसा व्यस्त तो नहीं रहता। हाँ, काम नहीं करता। सात बजे उठता हूँ। साढ़े आठ पर घूमकर आता हूँ। नाश्ता करता हूँ। नौ बजे अखबार पढ़ता हूँ। कभी घण्टा भर, कभी इससे ज्यादा समय लग जाता है। कभी कोई मिलने आ जाता है। ग्यारह बज जाते हैं। नहा-खाकर स्टूडियो जाता हूँ। कुछ काम हुआ तो किया, नहीं उपन्यास पढ़ा। पांच बजे लौटता हूँ। हिन्दी के पत्रों-पत्रिकाओं को उलटता-पलटता हूँ। चिट्ठी-पत्र लिखता हूँ, खाता हूँ, और सो जाता हूँ। यही दिनचर्या है। एकाध कहानी महीने में लिखता हूँ और दो-एक पृष्ठ के नोट 'हंस' के लिए—बस!

'मजदूर' तुम्हें पसन्द न आया। यह मैं जानता था। मैं इसे अपना कह भी सकता हूँ, नहीं भी कह सकता। इसके बाद एक रोमांस आ रहा है। वह भी मेरा नहीं है। मैं उसमें बहुत थोड़ा-सा हूँ। 'मजदूर' में भी मैं इतना थोड़ा-सा आया हूँ कि नहीं के बराबर।

फ़िल्म में डायरेक्टर सब-कुछ है। लेखक क़लम का बादशाह क्यों न हो, यहाँ डायरेक्टर की अमलदारी है और उसके राज्य में उसकी हकूमत नहीं चल सकती। हकूमत माने, तभी वह रह सकता है। वह यह कहने का साहस नहीं रखता, 'मैं जनरुचि को जानता हूँ।' इसके विरुद्ध डाइरेक्टर जोर से कहता है, 'आप नहीं जानते, मैं जानता हूँ, जनता क्या चाहती है और हम जनता की इसलाह करने नहीं आए हैं। हमने व्यवसाय खोला है, धन कमाना हमारी ग़रज़ है। जो चीज जनता माँगेगी, वह हम देंगे।' इसका जवाब यही है, 'अच्छा साहब! हमारा सलाम लीजिए। हम घर जाते हैं।' वही मैं कर रहा हूँ। मई के अंत में काशी में बन्दा उपन्यास लिख रहा होगा। और कुछ मुझमें नयी कला न सीख सकने की भी सिफ़त है। फ़िल्म में मेरे मन को संतोष नहीं मिला। संतोष डायरेक्टरों को भी नहीं मिलता, लेकिन वे और कुछ नहीं कर सकते, झख मारकर पड़े हुए हैं। मैं और कुछ कर सकता हूँ, चाहे वह बेगार ही क्यों न हो, इसलिए चला जा रहा हूँ। मैं जो प्लाट सोचता हूँ उसमें आदर्श-वाद घुस आता है और कहा जाता है उसमें एंटरटेनमेंट वैल्यू नहीं होता। इसे मैं स्वीकार करता हूँ। मुझे आदमी भी ऐसे मिले जो न हिन्दी जानते हैं और उर्दू। अँग्रेजी में अनुवाद करके उन्हें कथा का मर्म समझाना पड़ता है और काम कुछ नहीं बनता। मेरे लिए अपनी वही पुरानी लाइन मजे की है। जो चाहा लिखा।

'हंस' बदस्तूर चला जाता है। जून से अब तक ८००) प्रेस की नजर कर चुका हूँ। व्यापार जानता नहीं, खोल बैठा दूकान, घाटा आप होगा। न किसी ऐसे आदमी का सहयोग ही पा सका जो व्यापार जानता हो।

ऋषभजी आये थे। वह ऐसी कोई आयोजना बना रहे हैं जिसके तुम, हम, वह और अन्य कुछ लोग मिलकर एक लिमिटेड फ़र्म बना लें। ऐसे ही एक सज्जन कहते हैं, मैं अपनी दूकान उठाकर प्रयाग लाऊँ। मेरी समझ में कुछ नहीं आता। जैसे चलता है वैसे चला

मोहल्ले-मोहल्ले में स्त्रियों के समाज हैं और प्रायः सभी में हिन्दी की क्लासिज हैं। मैं बुद्धू की तरह माला पहनकर रह गया। बोल न सकने की कमी उस वक़्त मालूम हुई। जनता समझती है कि हिन्दी का एक बड़ा लेखक है; जाने क्या-क्या मोती उगलेगा और यहाँ है कि कुछ समझ में नहीं आता, क्या कहूँ। ख़ैर! ट्रिप अच्छा रहा। प्रेमीजी भी साथ थे। वे बेचारे भी इसी मरज में मुब्तिला हैं।

और क्या लिखूँ, मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है, जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती, न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। स्टूडियो गये, घर आ गये। हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।

भगवती देवी को मेरा आशीर्वाद कहना।

तुम्हारा
धनपतराय

[४५]

७ दरियागंज
१ मार्च, १९३५

बाबूजी,

पत्र का उत्तर देना जान-बूझकर टालता रहा। उसका कारण था। एक जगह से कुछ सुनने की आशा थी, और सोचता था वहाँ से पत्र आ जाय, तभी आपको लिखूँ। अब सुना है आपकी कम्पनी टूट गयी और अब इस पत्र को यदि पायेंगे भी तो आने की तैयारी में। ऐसी क्या बात हुई, यह शायद आप खुलासा लिखेंगे ही। क्या आप वर्धा जा रहे हैं? क्या वहाँ से इस ओर आयेंगे? मेरी कल्पना है कि बनारसीदासजी आपको उस ओर मिलेंगे। वह फिर शांति-निकेतन में उसी तरह का जमाव करने की धुन में हैं, क्या आप जावेंगे?

हंस से एक कहानी (एक रात) आपको मिली होगी। जरा

जाता हूँ।

लेखक संघ की नियमावली तुम्हें मिली होगी। काम की बात कोई नहीं। सहयोग सिद्धान्त पर प्रकाशन किया जाय और साहित्य का प्रचार बढ़ाया जाय तभी लेखकों को रोटी मिल सकती है। जब तक प्रचार नहीं बढ़ता, न प्रकाशक ही पनप सकेगा, न लेखक ही। मगर कोआपरेटिव पब्लिकेशन के लिए धन कहाँ है? अगर संघ यह न कर सके तो कुछ न कर सकेगा।

तुम्हारी कई चीज़ें पढ़ीं। 'ग्रामोफोन का रिकार्ड' तो हाल में पढ़ा है। वह दिमाग़ में है। पुरानी शराब चमकदार शीशी में ज्यादा मोहक हो गयी है। मगर वह औरत घर क्यों चली गयी, यह मेरी समझ में नहीं आया। शायद वह बेपढ़ी-लिखी थी। मगर बेपढ़ी-लिखी औरतों को समय काटने का रोग नहीं होता। यह रोग तो उन अँग्रेजी या नयी रोशनी की देवियों को है, जिनके लिए जीवन में रात-दिन कुछ न कुछ कंपन और सनसनी चाहिए, जो क्षण भर भी घर में नहीं बैठ सकती। अगर इसी तरह सभी औरतों का समय काटना दूभर हो जाय और मनमोदन की बैरिस्टरी की दुनिया में कमी है ही नहीं, तब तो सभी आत्माएँ विश्वात्मा में मिल जायँ और कहीं वह (मर्यादा) रहे ही नहीं जो मनुष्य को मनुष्य बनाये हुए है। खुलासा यह है कि इस कहानी का क्या मतलब है, यह मैं न समझ सका। शायद कोई मतलब समझने की बात ही मेरी भूल है। एक युवती के मनोभावों का गहरा सजीव चित्रण है। बस!

मद्रास गया था, वहाँ से मैसूर और बँगलौर भी गया। अपना यात्रा-वृत्तांत लिख रहा हूँ। कुछ नोट तो किया नहीं। जो कुछ याद है वही लिखता हूँ। हिन्दी का प्रचार बढ रहा है, यह देखकर खुशी हुई। जो लोग राष्ट्र की और कोई सेवा नहीं कर सकते, वे इसी खयाल में मगन हैं कि वे राष्ट्रभाषा सीख रहे हैं। मुझे वह प्रदेश बड़ा सुन्दर लगा। गाने-बजाने का घर-घर प्रचार है।

मोहल्ले-मोहल्ले में स्त्रियों के समाज हैं और प्रायः सभी में हिन्दी की चर्चा है। मैं बुद्धू की तरह माला पहनकर रह गया। बोल न सकने की कमी उस वक्त मालूम हुई। जनता समझती है कि हिन्दी का एक बड़ा लेखक है; जाने क्या-क्या मोती उगलेगा और यहाँ है कि कुछ समझ में नहीं आता, क्या कहूँ। ख़ैर! ट्रिप अच्छा रहा। प्रेमीजी भी साथ थे। वे बेचारे भी इसी मरज में मुब्तिला हैं।

और क्या लिखूँ, मेरा जीवन यहाँ भी वैसा ही है, जैसा काशी में था। न किसी से दोस्ती, न किसी से मुलाक़ात। मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक। स्टूडियो गये, घर आ गये। हिन्दी के दो-चार प्रेमी कभी-कभी आ जाते हैं। बस।

भगवती देवी को मेरा आशीर्वाद कहना।

तुम्हारा
धनपतराय

[४५]

७ दरियागंज
बाबूजी, १ मार्च, १९३५

पत्र का उत्तर देना जान-बूझकर टालता रहा। उसका कारण था। एक जगह से कुछ सुनने की आशा थी, और सोचता था वहाँ से पत्र आ जाय, तभी आपको लिखूँ। अब सुना है आपकी कम्पनी टूट गयी और अब इस पत्र को यदि पायेंगे भी तो आने की तैयारी में। ऐसी क्या बात हुई, यह शायद आप खुलासा लिखेंगे ही। क्या आप यहाँ आ रहे हैं? क्या वहाँ से इस ओर आवेंगे? मेरी कल्पना है कि बनारसीदासजी आपको उस ओर मिलेंगे। वह फिर शांति-निकेतन में उसी तरह का जमाव करने की धुन में हैं, क्या आप आवेंगे?

हंस में एक कहानी (एक रात) आपको मिली होगी। ज़रा

लम्बी हो गयी। लेकिन ग़ौर से पढ़ें और मुझे अपनी राय लिखें। और वह छपनी भी चाहिए।

आपके पत्र में 'ग्रामोफ़ोन का रेकार्ड' कहानी का ज़िक्र था। उस स्त्री के फिसलने के चारों ओर जो एक वायव्य और वातावरण कहानी में भर दिया गया है उसमें क्या स्त्री की ओर से सेल्फ़-डिसेप्शन की गंध आपको बिल्कुल नहीं मिली ? उसे वहाँ से बिल्कुल अनुपस्थित करने का मेरा अभिप्राय न था। बल्कि मुझे मालूम होता है, वह ध्वनि है। वह ध्वनि न हो तो संपूर्ण कृत्य नितांत जस्टिफ़ाइड ठहरता है। लेकिन वह मेरा अभिप्राय नहीं है। मेरा तो इष्ट मात्र इतना है कि कहानी में उस नारी के स्खलन पर घृणा से न भर जायँ प्रत्युत हमें करुणा हो, और वह नारी हमारी सहानुभूति से सर्वथा वंचित न हो जाय। 'विश्वात्मा' आदि-आदि बातों के समावेश की इतनी ही सार्थकता है। कहानी में यह तो स्पष्ट ही है कि नारी में अपराध-चेतना (गिलटी कौन्सिएन्स) हो जाती है। फिर यह गिलटी कौन्सिएन्स ही उसे अपने पति के प्रेम और संरक्षण की छाया के नीचे से हटकर चले जाने को लाचार करती है। लेकिन क्या वह अपना ग्लानिभरा हृदय बाहर की ओर खुलने दे ? यह वह नहीं कर सकती, इसी से पति से झगड़ा मोल लेने को उतावली और तत्पर वह दिखायी देती है। मैं समझता हूँ, इन मेरी ऊपर की बातों के प्रकाश में वह कहानी आपको असंयम का समर्थन करती न जान पड़ेगी, जैसी कि इस समय आपको लगी है।

ख़ैर, आप अपने सम्बन्ध में खुलासा लिखियेगा। अभी तक किसी भी भाँति 'हंस' के बारे में वे पुरानी बातें नहीं छोड़ सका हूँ। मैं अब भी यही सोचता हूँ कि 'हंस' का सम्पादन आप बिल-कुल मुझ पर छोड़ दें। एक ऑरगन की बड़ी सख़्त ज़रूरत जान पड़ती है। कहानी महीने में कितना खप सकती है, मुश्किल से तीन। तीन कहानियाँ मेरा कुछ भी समय नहीं भरतीं और न

तीन कहानियों का प्रोडक्शन कोई मन में परपज़ की भाँति जम पाता है। उस परपज़ को सामने पा लें, उसी के सहारे कोई बड़ी किताब उपन्यास-आदि हाथ में ली जा सकती है, अन्यथा खाली-सा लगता है। अभी यों भी जितने हिन्दी में पत्र हैं, मन कोई भी नहीं चढ़ता। एक बढ़िया, ठोस, स्टैण्डर्ड पत्र की कमी हिन्दी में खलती ही है।

मैं इधर मध्य मार्च में आपकी ओर जरा सैर करने के मन्सूबे बनाने में लगा था कि आप ही चल दिए।

वर्धा जायँ और गांधीजी से मिलें तो मेरा प्रणाम कहिएगा कि जैनेन्द्र को आपका पत्र मिला है और वह साहस संग्रह कर लेगा, तब उन्हें उत्तर लिखेगा। पत्र दीजिएगा।

आपका
जैनेन्द्र

[४६]

प्रयाग
४ मई, १९३५

प्रिय जनेन्द्र,

मैं तो इंदौर जाते-जाते रह गया। सबसे वायदे कर लिये थे, एक भी पूरा न कर सका। इस उम्मीद से कि तुमसे इंदौर में गप-शप होगी, तुम्हें खत भी नही लिखा। जब पूरा भोजन मिलने की आशा हो तो पानी पी-पीकर क्यों भूख को दुर्बल बनाया जाय! लेकिन कुछ तो प्रेमीजी के न आने और कुछ नातेदारियों में जाकर मिलने-मिलाने के कारण सारा प्रोग्राम भ्रष्ट हो गया। अब धुन्नू को चेचक निकल आयी है, और २७ से वह पड़े हुए हैं। हम भी उसके साथ है; यात्रा करने के लायक हो जाय तो सात को यहाँ से उसे लेकर चले जायें। चेचक हल्की है, यही कुशल है। दाने मुरझा

गए हैं। मगर अभी सफ़र करने में गर्मी लगने से मुमकिन है उनके अच्छे होने में ज्यादा समय लग जाय।

परसों श्री कन्हैयालाल मुंशी के पत्र से मालूम हुआ कि सम्मेलन ने राष्ट्र-साहित्य-बोर्ड-निर्माण के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पास किया है। यह तो मुश्किल न था, मगर उस प्रस्ताव को कार्य-रूप देने का भार किस पर सौंपा गया ? मुंशी साहब से तुम्हारी क्या बातचीत हुई और कार्यक्रम का क्या ढंग रहेगा ? 'हंस' तो इस काम के लिए यहां तक तैयार है कि अन्य प्रान्तीय लेखकों से पत्र-व्यवहार करके उनसे हिन्दी में लेख और कहानियां लिखवाकर छापे, मगर क्या इतना ही उस संस्था को सजीव बनाने के लिए काफ़ी होगा ? (विस्तार से) लिखना। मैंने 'भारत' में तुम्हारे भाषण की रिपोर्ट पढ़ी, बहुत अच्छी है।

मैंने इरादा किया है कि जून से हंस को और प्रेस को प्रयाग लाऊँ और खुद भी यहीं रहूँ। काशी में न तो काम है और न साहित्य वालों का सहयोग। वहां जितने है, वे सभी सम्राट् है; कोई कवि-सम्राट्, कोई आलोचना-सम्राट्, कोई प्रहसन-सम्राट्। यह गौरव तो काशी ही को है कि वहां सभी सम्राट् मौजूद है, मगर सम्राटों की सम्राटों से पटेगी ? शिष्टाचार की बात और है, हार्दिक सहयोग की बात और। मुझे डर लग रहा है कि कहीं तुम भी साल-छः महीने में सम्राट् हो जाओ तो मेरा काम ही तमाम हो जाय ! फिर तुमसे कोई लेख माँगने का साहस भी न कर सकूं। इसलिए अब प्रयाग आ रहा हूँ जहां सम्राट् कम है।

अगर कोई कहानी भेज सको तो बहुत अच्छा, मगर उस आखिरी कहानी की तरह पूरा उपन्यास नहीं।

और क्या लिखूं ! प्रेमीजी तो नहीं आए थे। हां, सम्मेलन पर अपने इम्प्रेशन्स लिख दो तो 'हंस' में निकाल दूं। तुम्हारी क्या सलाह है, 'हंस' को बिल्कुल कहानी-पत्र बना दूं, और आधी अनु-

चादित और आधी मौलिक कहानियाँ दिया करूँ ?

मांताजी को मेरा प्रणाम कहना और भगवती को आशीर्वाद।

तुम्हारा
धनपतराय

[४७]

७, दरियागंज
७ मई, १९३३

बाबूजी,

पत्र मिला। कितनी मुद्दत बाद मिला है! इन्दौर में मैंने पहली बात यह पूछी कि आप आये हैं? पता लगा, नहीं आये। तब सोचा, तार दूँ। लेकिन प्रेमीजी, जो स्टेशन पर ही मिल गये थे, बोले--आप आ न सकेंगे, तार देना फिजूल होगा। इससे रह गया। जरा भी जानता कि आप इन्दौर जाने के लिए उद्यत बैठे हैं तो जरूर आपको बुला ही लिया जाता। वहाँ आपको मिलने को बहुत ही जी भटकता रहा।

हाँ, मुंशीजी वहाँ मिले थे। बातें भी हुईं। जो सोचा था वह तो न हुआ। उसका भी इतिहास है। एक सीधा-सादा-सा प्रस्ताव अवश्य हुआ है। कमेटी बनी है जिसमें मुंशी संयोजक है। अब सब उन पर है।

काम का क्या ढंग हो। आने-जाने में खर्च तो बहुत पड़ता है लेकिन पाँच आदमियों को मिल लेना चाहिए तब काम आगे बढ़ सकता है। गांधीजी, मुंशी, कालेलकर, आप और मैं, ये सब लोग वर्धा में ही यथाशीघ्र सुविधानुसार मिल लें, लेकिन यह मुंशी पर है। उनका पत्र आया था। लेकिन मैंने इधर उसका जवाब भी नहीं दिया है, अब दूँगा।

यह भी बात हुई थी कि अपना अलग पत्र न निकालकर आपसे 'हंस' ही देने के लिए कहा जाय। मैं समझता हूँ इसमें आपके लिए भी अयुक्त कुछ नहीं है। जब तक इस सम्बन्ध में आगे बातें

होगा, ऐसी आशा आपको किस बल पर होती है ? किन्तु फिर प्रश्न है, प्रयाग भी यदि नहीं तो क्या किया जाय ? इसका उत्तर मेरे पास नहीं है। दिल्ली ! मैं एकाएक नहीं कह सकता, क्योंकि धुन्नू आदि का भी सवाल है। इन्दौर में मेरे मन में आया था कि प्रेमीजी का कारोबार भी कुछ इंस्टीट्यूशन की शक्ल में नहीं है न आपका ही, तब क्यों न दोनों को मिलाकर एक सम्मिलित (लिमिटेड) फ़र्म की शकल में ढाल दिया जावे और चलाया जावे ! लेकिन यह सब दौड़-धूप के बिना कैसे हो ? वह कौन करे ? मैं इधर बहुत हैंडीकैप्ड हो रहा हूँ, चलना-फिरना भी सरल नहीं होता। फिर भी यह देखता हूँ कि आगे कोई रास्ता नहीं है। जानता नहीं, आप बम्बई से कितना पैसा जमा करके लाये हैं। लेकिन जितना भी मुझे दीखता है सब इस कारोबार में ही झुकेगा।

मैंने प्रवासीलालजी को लिखा था कि मैटर की जब ज़रूरत हो, दो रोज का नोटिस देकर मुझे लिख दें। सोलह सफ़े तक की स्क्रिप्ट मैंने दी थी। अब मेरा इसमें दोष नहीं है कि वह वसूल न किया जाय। जब क्लर्क पास हो तो मैटर देने में कठिनाई क्या होती है ! इधर दस दिनों से क्लर्क नहीं था, इससे काम सब ठप्प था। अब है तो मैटर की क्या चिन्ता ?

कहानी भेज रहा हूँ।

हाँ, साहित्य परिषद् (इन्दौर) में मैं बोला था पर 'भारत' में तो भाषण का कचूमर था। शायद आप पढ़ें तो मैं बोला हूँगा। और 'भारत' में जो था उसका तो [illegible] में बनता था, हाँ ध्वनि उसमें मुझे अवश्य अपनी [illegible] । जान पड़ता है,

ऑर्टहैण्ड की रिपोर्ट उसकी ली गयी है। आप उन्हें लिखिये न कि यदि रिपोर्ट हो तो उसकी प्रति वह आपको भेज दें; मैं भी यहाँ से लिखूंगा। यहाँ सम्मेलन के वारे में एक ने इंटरव्यू ली थी। वह मैं कल या परसों आपको भिजवा दूंगा।

इलाहाबाद में क्या आपने मकान आदि पक्का कर लिया है? यदि दिल्ली की बात किसी तरह भी व्यवहार्य जान पड़े और सब बन्दोबस्त शिफ्ट का न हुआ हो तो उस पर सोचियेगा। मैं आपका बहुत-कुछ, लगभग सभी कुछ बोझ हलका कर सकता हूँ, ऐसा मुझे लगता है।

और, आप पत्र देने के बारे में ऐसा प्रमाद न किया कीजिये। इस बीच आपके पत्र न पाने से सच जानिये, मुझे बहुत सोच रहा।

बाकी ठीक ही-सा है।

आपका
जैनेन्द्र

[४८]

सरस्वती प्रेस,
१४ मई, १९३५

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारी कहानी, छपा हुआ भाषण और सम्मेलन पर प्रश्नोत्तर सब मिले। धन्यवाद! पत्र तैयार हो गया है। अगले महीने काम आयेंगे।

बम्बई से क्या लाया? कुल ६३०० रु० मिले। इसमें १५०० रु० लड़कों ने लिये, ४०० रु० लड़की ने, ५००रु० प्रेस ने। दस महीने में बम्बई का खर्च बड़ी किफ़ायत से भी २५०० रु० से कम न हो सका। वहाँ से कुल १४०० रु० लेकर अपना-सा मुँह लिये चले आये। अब ये यहाँ से प्रेस के उठाने में खर्च हो जायेंगे। प्रयाग में शायद यहाँ से अच्छी तरह काम चले। लेखक संघ के दो-एक सज्जन कुछ मदद करेंगे। एकेडमी से कुछ काम मिल जायगा और बाहर का कुछ काम

मिलने की उम्मीद है। अगर वह विचार पूरा हो गया तो यह बला सर से टल गयी। इसके सिवा मुझे तो कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता। अगर दो-एक साझेदार मिल जायँ, जो दस-पाँच हजार रुपये लगायें और काम अपने हाथ में ले लें, मुझसे केवल ऊपरी सलाह का काम लेते रहें, तो और भी अच्छा। नहीं लिमिटेड ही सही। इन सभी बातों के लिए प्रयाग अच्छा क्षेत्र है। बनारस तो केवल × × × जानता है। अगर ऐसी कोई सूरत निकल आये तो मेरी हार्दिक इच्छा है कि हम लोग साथ रहते। अभी तो यह हाल है कि आज प्रेस पर मकान के किराये की नालिश हुई है। ३००० रु० बाकी है। जिस कार्यालय में मजदूरों की मजदूरी और मकान का किराया भी न निकल सके, उसकी हालत का अनुमान कर सकते हो। किसे दोष दूँ? प्रवासीलालजी से जो हो सकता है करते हैं। इससे ज्यादा एक आदमी और क्या कर सकता है? अगर वह ज्यादा दौड़-धूप कर सकते तो शायद दशा इतनी खराब न होती। लेकिन जो काम उनसे नहीं हो सकता तो शायद उन्हें उसके लिए मजबूर भी तो नहीं किया जा सकता।

मैंने श्री के० एम० मुंशी को पत्र लिखा है। देखो। क्या जवाब देते हैं।

इधर धुन्नू को चेचक निकली थी। उन्हें प्रयाग से यहाँ लाये। यहाँ बन्नू को भी निकल आई, और छः दिन से यह पड़ा हुआ है। मैं तो शहर गया भी नहीं। घर बैठा-बैठा केवल चिट्ठी-पत्र लिख लेता हूँ।

प्रयाग से मुझे कुछ सभाओं की राय है कि 'हंस' केवल कहानियों का पत्र बना दिया जाय। तुम्हारी क्या राय है? इस विषय में शायद हमारी बातचीत हो चुकी है। लेकिन याद नहीं आता कि तुमने क्या राय दी थी। शेष कुशल है।

तुम्हारा
धनपतराय

[४६]

५ मई, १९३५

बाबूजी,

पत्र मिला। मैंने तो समझा था कि आपने चिट्ठी लिखी है, इससे तुरन्त ही कहानी की जरूरत होगी सो भेज दी थी। डर है, वह अगले महीने तक पुरानी न हो जाय, क्योंकि बम्बई से छपने-वाले संग्रह में भी उसे भेजा है।

'हंस' कहानियों का ही हो, इसमें क्या बुरा है; बल्कि एक स्पेशलाइजेशन की दिशा ही बनेगी। लेकिन इतनी अच्छी कहा-नियाँ मिलेंगी? और तब जब कि 'हंस' की हालत पैसा देने की नहीं है? न 'हंस' स्टाफ़ ही अच्छा रख सकता है। मेरा तो ख़याल है कि मुंशी की स्कीम कुछ बने तो 'हंस' छोड़कर आप छूटिये। छूटना मात्र केवल झंझट से होगा। क्योंकि तब भी पत्र तो सम्पा-दन के लिहाज से आपका ही होगा। मुझसे पूछें तो मेरे मन में यह भी है कि कहूँ कि 'हंस' का सम्पादन मुझे दे दें।

इलाहाबाद जा ही रहे है, तो जाकर देखिये। मुझे तो वहाँ का ज्यादा भरोसा नही होता। भारतीयजी को मैं नहीं जानता। अच्छा ही है कि उनसे आपको सहायता मिले। बम्बई से पाये पैरों में से इतना भी बचा कि एक तजुर्बा किया जाय तो क्या बुरा है! वहाँ कहाँ जमने का ठीक किया है?

इस चेचक से मुझे बड़ा डर लगता है। अब बन्नू की क्या हालत है, जरूर लिखियेगा। क्या एक्यूट केस है? यों तो सात-आठ रोज में दाने मुरझा आते और झड़ने लगते हैं। क्या वहाँ एपीडेमिक तो पड़ा था चेचक का?

यहाँ यों सब ठीक-ठाक है। इधर आप मुद्दत से नहीं आये। कभी दो रोज की छुट्टी निकाल सकेंगे कि यहाँ आयें?

पड़ने लगी है। पहाड़ याद आता है लेकिन जाना कहाँ होता है! अम्माजी को मेरा प्रणाम!

आपका
जैनेन्द्र

[५०]

बनारस
२७ सितम्बर, १६३५

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम्हारा कार्ड मिला। चिन्ता हो रही थी कि क्यों कोई पत्र नहीं आ रहा है। माताजी बीमार हैं, यह तो बुरी खबर है। अब तो तुम वहाँ पहुँच गये। शीघ्र लिखना, उनकी तबीयत का क्या हाल है।

क्लर्क का रोग तुमने बुरा पाल लिया। दिल्ली के लेखकों को ही मुश्किल पड़ रही है, क्लर्कों के लिए कहाँ से प्रबन्ध हो? मेरी आमदनी तो समाचार-पत्रों से प्रायः बन्द हो गई। छः महीने में कुल ३५ रु० का काम किया। 'चाँद' में एक कहानी लिखी, मगर रुपये वह भी नहीं दे रहे हैं। कहते हैं 'चाँद' की माली हालत खराब है, और मैंने कहीं कुछ नहीं लिखा। हंस तो अपना है, और अपने तो लेते हैं, देते कभी नहीं।

रुपये के विषय में मैं क्या लिखूँ! तुमने कुछ टेढ़ा-सीधा काम किया भी। मैं तो पाँच महीने में एक पैसा न कमा सका। बम्बई से थोड़े-से पैसे लाया था, वह पाँच महीने में खा गया और कुछ क़र्ज़ चुका दिया। और ऐसा था ही क्या! अब इसी चिन्ता में घुल रहा हूँ कि आगे क्या होगा। 'कर्मभूमि' और 'ग़बन' दोनों करीब-करीब समाप्त हैं। मुझे कौड़ी न मिली। उन्हें दोबारा छपवाने की चिन्ता अलबत्ता हो रही है। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि तुम यहाँ

आकर 'जागरण' को पाक्षिक रूप में निकालो और वह वास्तव में 'जागरण' के नाम को चरितार्थ करे।

मेरा ख़याल है, बत्तीस पृष्ठों का पाक्षिक-पत्र, जिसका चन्दा भी एक आना हो और तुम्हारे सम्पादकत्व में निकले, तो छः महीने में उसमें कुछ न कुछ निकलने लगेगा। मैंने जो तख़मीना किया है उसके हिसाब से प्रति संख्या १०० रु० खर्च पड़ेगा और आमदनी का अनुमान १३० रु० प्रति संख्या है। १००० छपेगा। अगर छः महीने चल जाय तो आशा है कि उससे ६०-७० रु० माहवार निकलने लगें। जब प्रचार बढ़ेगा और २००० तक पहुँच जायगा, तब तो और भी मिल सकते हैं। मुझे केवल काग़ज और पोस्टेज खर्च करना पड़ेगा। इतनी आमदनी विज्ञापनों से हो सकती है।

लेकिन अभी तो तुम परेशान हो, माताजी अच्छी हो जायँ तो इस विषय पर कुछ सोचना पड़ेगा। पत्रों से आमदनी के भरोसे पर तो एकादशी से सिवा और कुछ नहीं है। 'भारत' की दशा अच्छी नहीं है। 'चाँद' का हाल कह ही चुका। अब रहे, 'विशाल भारत', 'माधुरी' और 'सरस्वती'। इनसे २० रु० महीना मिलना भी मुश्किल है।

'हंस' शायद पहली तक तैयार हो जाय।

भवदीय
धनपतराय

[५१]

हंस कार्यालय, बनारस
६ दिसम्बर, १६३५

प्रिय जैनेन्द्र,

कल तुम्हारा पत्र मिला। मुझे यह शंका पहले ही थी। इस मर्ज में शायद ही कोई बचता है। पहले ऐसी इच्छा थी कि दिल्ली आऊँ, लेकिन मेरे दामाद तीन दिन से आये हुए हैं, और शायद

बेटी जा रही है । फिर यह भी सोचा कि तुम्हें समझाने की तो कोई बात है ही नहीं । यह तो एक दिन होना ही था । हाँ, जब यह सोचता हूँ कि वह तुम्हारे लिए क्या थीं, और तुम उनके काल में आज भी लड़के-से बने फिरते थे, तब जी चाहता है तुम्हारे गले मिलकर रोऊँ । उनका वह स्नेह ! वह तुम्हारे लिए जो कुछ थी, वह तो थी ही, मगर उनके लिए तो तुम प्राण थे । आँख थे । सब कुछ थे । विरले ही भाग्यवानों को ऐसी माता मिलती है । मैं देख रहा हूँ तुम दुःखी हो, और चाहता हूँ, यह दुःख आधा-आधा बाँट लूँ अगर तुम दो । मगर तुम दोगे नहीं । इसे तो तुम सारे का सारा अपने सबसे निकट स्थान में स्वरक्षित रखोगे ।

काम से छुट्टी पाते ही अगर आ सको तो जरूर आ जाओ । मिले बहुत दिन हो गये । मन तो मेरा भी आने को चाहता है, लेकिन मैं आया तो तीसरे दिन रस्सी तुड़ाकर भागूँगा । तुम— मगर अब तो तुम भी मेरे-जैसे हो, भाई । अब वे बेफ़िक्री के मजे कहाँ !

और सच पूछो तो मेरी ईर्ष्या ने तुम्हें अनाथ कर दिया । क्यों न ईर्ष्या करता, मैं सात वर्ष का था जब माताजी चली गयी । तुम २७ के होकर मातावाले बने रहे । यह मुझसे कब देखा जाता ! अब जैसे हम, वैसे तुम । बल्कि मैं तुमसे अच्छा हूँ । मुझे माता की सूरत भी याद नहीं आती । तुम्हारी माता तुम्हारे सामने है और बोलती नहीं, मिलती नहीं ।

महात्माजी तो वहाँ होंगे ?

और तो सब ठीक है । चतुर्वेदीजी ने कलकत्ते बुलाया था कि आकर नोगूची जापानी कवि का भाषण सुन जाओ । यहाँ नोगूची हिन्दू यूनिवर्सिटी आये, उनका व्याख्यान भी हो गया, मगर मैं न जा सका । अक्ल की बातें सुनते और पढ़ते उम्र बीत गयी । ईश्वर पर विश्वास नहीं आता, कैसे श्रद्धा होती ? तुम आस्तिकता की ओर जा रहे हो । जा नहीं रहे, पक्के भक्त बन रहे हो । मैं संदेह

से पक्का नास्तिक होता जा रहा हूँ।

बेचारी भगवती अकेली हो गयी!

'सुनीता' जाने कहाँ रास्ते में रह गयी। यहाँ कहीं बाज़ार में भी नहीं। चित्रपट के पुराने अंक उठाकर पढ़े, पर मुश्किल से तीन अध्याय मिले। तुमने बड़ा जबरदस्त आइडल रख दिया, महात्माजी के एक साल में स्वराज्य पानेवाले आन्दोलन की तरह। मगर तलवार पर पाँव रखना है।

तुम्हारा
धनपतराय

[५२]

हंस कार्यालय, बनारस
२४ दिसम्बर, १९३५

प्रिय जैनेन्द्र,

'सुनीता' पढ़ गया। आधी दूर तक तो कुछ रस न आया, लेकिन पिछला आधा सुंदर है। नारीत्व का जो आदर्श तुमने रखा है, वही सच्चा आदर्श है। नारी केवल गृहिणी क्यों हो, गृहिणी से अलग भी उसका जीवन है। अगर उसमें गृहिणीत्व से आगे बढ़ने की सामर्थ्य है तो वह क्यों न आगे बढ़े! सुनीता के मन में इस नये क्षेत्र में आने से जो संघर्ष हुआ है, वह उसके रक्त में सने हुए गृहिणी-जीवन के अनुकूल है। मगर तुम्हारा हरिप्रसन्न अंत में जाकर मुझे कुछ × × × होता जान पड़ता है। शायद मुझे भ्रम हो, लेकिन श्रीकान्त से छिपकर वह कृत्य क्यों किया गया? इसमें मुझे नैतिक दुर्बलता का भय होता है। श्रीकान्त की पूरी अनुमति से यह काम किया जा सकता था। श्रीकान्त-जैसा उदारचेता मनुष्य सुनीता के इस नये मार्ग में बाधक न होता; और होता तो सुनीता को अपने निश्चय पर दृढ़ रहना और उसके नतीजे (बर्दाश्त कर) लेना चाहिए था। हरिप्रसन्न ने सुनीता को सिड्यूस किया, कुछ ऐसा

भासित होता है। सुनीता ध्वजाधारिणी बने, इसमें कोई हर्ज नहीं; नहीं वह गौरव की बात है। उसके लिए भी और देश के लिए भी। लेकिन हरिप्रसन्न के मन में यह कुत्सित भावना क्यों? ध्वजाधारिणी के पद से गिराकर उसे व्यभिचारिणी के पद पर क्यों लाना चाहता है? अगर सुनीता विवाहित न होती, अगर यह प्रेम सत्या के साथ निभाता तो कोई बात न थी। लेकिन जब श्रीकान्त और सुनीता में एक मुआहिदा हो चुका है और वह मुआहिदा उसे स्वीकार है तो फिर यह व्यवहार क्यों? अगर सुनीता हरिप्रसन्न को जी से चाहती है, तो उसे अपने पति से स्वयं कह देना चाहिए था। यह धोखा और फ़रेब क्यों? मगर सुनीता कहीं भी हरिप्रसन्न को चाहती नहीं दिखायी दी। विद्रोह या असंतोष की वहाँ गंध भी नहीं, फिर वह क्यों हरिप्रसन्न के सामने इस तरह नत हो जाती है? क्या हरिप्रसन्न का पर्सनल मैग्नेटिज्म उस पर असर करता है? अगर ऐसा है तो यह भी हरिप्रसन्न की नीचता और लापरवाही है. मित्र के साथ दग़ा है—उस मित्र के साथ जो उसे अपने भाई से भी प्रिय रखता हो। क्रान्तिकारी नीति में विवाह हेच वस्तु हो सकता है। मगर इस सामाजिक (बंधन) का महत्त्व क्यों भूल जायँ? स्त्री पत्नी रहते हुए भी अभिनेत्री बन सकती है, और अगर पति दुराचार करे तो उसे लेकर मार सकती है। लेकिन इस तरह एक युवक के पंजे में फँस जाना न उस क्रांतिकारी युवक को शोभा देता है न नारी को।

अगर मेरे समझने में ग़लती हो तो सुधार देना।

मेरे 'कर्मभूमि' का उर्दू-एडीशन जामिया मिल्लिया ने निकाला है।

हो सके तो काशी-नम्बर 'हंस' के लिए कुछ लिखना।

तुम्हारा
धनपतराय

[५३]

हंस-कार्यालय,
बनारस कैंट
१० जून, १९३६

प्रिय जैनेन्द्र,

तुम दिल्ली कब पहुँच गये ? मैं तो समझ रहा था कि अभी चिरगाँव में ही हो। हाँ, वह राष्ट्रभाषावाला कटिंग था तो, मगर न जाने कहाँ रह गया। मिल नहीं रहा है।

'गोदान' निकल गया। कल तुम्हारे पास जायगा। खूब मोटा हो गया है, ६०० से (ऊपर) गया। अपना विचार लिखना।

परिषद् तो साविक दस्तूर (घिसट) रहा है। परिषद् का निर्माण हो जाने से इसमें कुछ नया जीवन तो आया नहीं।

आजकल 'हंस' में ४५० रु० महीने की कमी पड़ रही है। ६०० रु० का खर्च और १५० रु० की आमदनी। सोचा था काका-साहब के आने से इसकी दशा सँभलेगी, मगर अभी तो कोई फल नहीं हुआ। आज जून की संख्या निकल गयी, कल भेजी जायगी।

हाँ, सीरियल नाविल शौक़ से लिखो। मुझे डर यही है कि 'हंस' की माली हालत खराब है। खैर। लिखना शुरू करो। कुछ न कुछ करना चाहिए। बेकार बैठने से कैसे काम चलेगा! मैं ऐसा करूँगा कि दो हजार हर महीने छापता जाऊँ। इस तरह (उसके) प्रकाशन में सुविधा हो जायगी। पुस्तक बहुत कम खर्च में तैयार हो जायगी। हाँ यह चाहता हूँ कि मुंशीजी का उपन्यास खत्म हो जाय तो शुरू करो।

तुम्हारा
धनपतराय

[५४]

बनारस कैंट,
२२ जून, १६३६

प्रिय जैनेन्द्र,

यह लेख तो अगस्त में जायगा। देर में आया और हिन्दी के चारों फ़ार्म भर गये। राष्ट्र-भाषावाला लेख क्या कोई प्रिंट था? याद नहीं आ रहा है, कब आया। यहाँ तो मिलता ही नहीं।

'हंस' का पैसेवाला भार कम्पनी पर है, मुझ पर नहीं। हाँ, कम्पनी इसके खर्च से × × × हुई है। ४ जुलाई को वर्धा में भारतीय परिषद् की कार्य-कमेटी की बैठक है। इसमें फ़ैसला किया जायगा कि 'हंस' का क्या किया जाय। शायद मैं भी जाऊँ। आज भी बम्बई में काका और मुंशी बैठे कुछ सलाह कर रहे हैं। मुझे तार दिया था, लेकिन अभी बम्बई जाता और ४ को वर्धा। वर्धा जाना ही मुश्किल हो रहा है। तबीयत भी अच्छी नहीं है।

बँगलावालों का यह (रोग) किसी तरह दूर हो जाय तो क्या कहना! काम मिलने-मिलाने का है और यहाँ किसी को फ़ुरसत नहीं। जब तक कोई एक आदमी पीछे न पड़ जाय तो जीवन कहाँ से आये?

आज 'गोदान' भेज रहा हूँ। पढ़ना और अच्छा लगे तो कहीं 'अर्जुन' या 'विशाल भारत' या 'हंस' में आलोचना करना। अच्छा न लगे तो मुझे लिख देना, आलोचना मत लिखना......

[५५]

बनारस,
२ जुलाई, १६३६

प्रिय जैनेन्द्र,

'सुनीता' मैं छापूँगा। जिस वक्त तुम यहाँ आओगे, टाइप, कागज, दाम आदि का निश्चय किया जायगा।

४ को वर्धा में भारतीय साहित्य परिषद् की मीटिंग है। हंस लिमिटेड 'हंस' को परिषद् के हाथ सौंपेगा। छपाई आदि का प्रबन्ध काका खुद करेंगे, मेरा केवल नाम रहेगा सम्पादकों में। यहाँ छापने में उन लोगों के विचार में खर्च ज्यादा पड़ता है।

अब तक कम्पनी ने मुझे कुल १४०० रु० दिये हैं। मगर मुझे झंझट से निजात मिल जायगी।

(लोपामुद्रा) समाप्त हो गई। अगस्त में तुम्हारा उपन्यास जा सकता है। मुंशी को एक पत्र लिख दो। अगर 'हंस' यहाँ रहा तो कोई बात नहीं, लेकिन वहाँ गया तो वे लोग फ़ैसला करेंगे। मैं तो जनवरी से एक और पत्र निकालूंगा। तुम आओगे तो सारी बातें तय होंगी। भगवती को साथ लाना। मैं पन्द्रह दिनों से दस्तों में मुब्तिला हूँ।

तुम्हारा
धनपतराय

[५६]

बनारस,
१६ अगस्त, १६३३

प्रिय जैनेन्द्र,

कहानियाँ और पत्र ठीक-ठीक पहुँच गये। धन्यवाद! ठाकुर श्रीनाथसिंहजी वाली इण्टरव्यू कुरुचिपूर्ण थी और अत्युक्तियों से भरी हुई। मैंने हंस में एक टिप्पणी दी है। ये लोग सस्ती ख्याति के पीछे पड़े हैं और सनसनीखेज पत्रकारिता उसके लिए राजमार्ग है। मुझे उम्मीद है कि श्रीनाथसिंह इस शरारत को दोहरायेंगे नहीं।

मुझे यह जानकर अफ़सोस हुआ कि तुम्हारे मामले काफ़ी परेशान कर रहे हैं, ऐसा लगता है कि रंगभूमि का कारबार ठीक से नहीं चला। साहित्यिक उद्योग से तुम आशा भी और क्या कर सकते

थे ? हर जगह वही पुरानी कहानी है। किताबों की बिक्री इतनी निराशाजनक है कि भविष्य की बात सोचकर कलेजा थाम लेना पड़ता है। तुम मुझसे जागरण बन्द करने को कहते हो। एक से ज्यादा मर्तबा उसके बारे में सोच चुका हूँ। लेकिन चूँकि मैं उस पत्र पर क़रीब तीन हज़ार घाटा उठा चुका हूँ, उसे बंद कर देने में मुझे कठिनाई हो रही है। साहित्य-सृष्टि अनिश्चित-सी चीज है। उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। अलावा इसके, उसके लिए मानसिक शान्ति और वातावरण की शान्ति अपेक्षित है जो कि वर्तमान स्थितियों में हाथ नहीं आती। प्रेस को चलाना ही पड़ेगा। मैंने अपने भाई का रुपया उसमें लगा दिया है और अपनी ज़िम्मेदारियों से अब नहीं बच सकता। यहाँ पर काम बहुत कम है। थोड़ा-बहुत जो है, वह ज्यादा सस्ते प्रेस हथिया लेते हैं। प्रेस को काम देना है। जागरण से औसतन क़रीब चार सौ रुपये वसूल होते हैं। इसका मतलब है कि उससे प्रेस का खर्चा निकल आता है। जागरण में जो काग़ज़ इस्तेमाल होता है उसकी क़ीमत लगभग डेढ़ सौ रुपये होती है। यह रकम हर महीने हंस से और किताबों की बिक्री से पूरी करनी पड़ती है। बिक्री अगर संतोषजनक होती तो सब ठीक-ठीक रहता। हमने 'फांसी', 'रूपराशि', 'बिसरे फूल' और 'प्रेम की वेदी' छापी है। अब हम 'प्रतिज्ञा' छाप रहे हैं और उसके खत्म होते ही 'कायाकल्प' शुरू करेंगे। इस तरह तुम देखोगे कि जहाँ तक असासे की बात है, हम नफ़े में काम कर रहे हैं। लेकिन रुपये का सम्पूर्ण अभाव है। कोई भी किताब नहीं बिक रही है। मेरे एक-दो संग्रह जो स्कूलों में मंजूर हैं, वही किसी तरह स्थिति को सम्हाले हुए हैं। कर्मभूमि भी काफ़ी अच्छी बिक रही है। जागरण बड़े मजे में मुनाफ़े की चीज़ हो सकती है, अगर मैं धीरज के साथ उसमें लगा रह सकूं। उससे अगर मुझे महीने में सौ रुपये की भी आमदनी हो जाय तो मैं सन्तुष्ट हूँ। मुझे उम्मीद है कि दूसरे वर्ष के अन्त तक वह मेरे लिए बोझ न रह जायगा।

'कायाकल्प' के खत्म होते ही मैं तुम्हारी 'मैगडलीन' हाथ में लूँगा। मैं कितना चाहता हूँ कि तुम्हारी सब रचनाएँ प्रकाशित करूँ और तुमको तुम्हारी छोटी-छोटी चिन्ताओं से मुक्त कर दूँ।

तुमने 'थामा' का अनुवाद शुरू किया है, बहुत अच्छी बात है। विश्व का मेरा इतिहास समाप्त हो गया है। अब मैं फिर अपना 'गोदान' उठाऊँगा।

मुझे उम्मीद है कि मैं बहुत जल्द ही तुमको कुछ भेजूँगा। जहाँ तक महावीर की बात है, अगर तुम सोचते हो कि वह अच्छा सेल्समैन हो सकता है, और अच्छा बिजनेस ला सकता है तो मुझे उसको अपने पास रखकर खुशी होगी। मेज पर बैठकर करने लायक़ कोई काम नहीं है। उसको बिहार, राजपूताना आदि का दौरा करना पड़ेगा। अगर वह अच्छा काम करता है तो कोई वजह नहीं है कि वह क्यों हमारा स्थायी सेल्समैन न बने। शुरू में मैं उसके कच्चेपन के लिए छूट देने को तैयार हूँ और करीब छः महीने तक का ट्रायल उसको दूँगा। अगर वह महीने में दो सौ रुपये की बिक्री कर सके या 'हंस' और 'जागरण' के बीस-बीस ग्राहक ला सके और एक सौ रुपये की किताबें बेच सके तो उसकी तनख्वाह और सफ़र खर्च निकल आयेगा और वह एक कमाऊ आदमी साबित होगा, बोझ नहीं बनेगा। अगर तुम संतुष्ट हो कि वह इतना सब कर सकता है तो तुम उसको मेरे पास भेज दो, या रुके रहो जब तक कि मैं तुमको रुपया नहीं भेजता।

तुम मेरी कुछ मदद क्यों नहीं करते? साप्ताहिक पत्र को मुनाफ़े की चीज़ बनाया जा सकता है और अब भी एक-दो ऐसे पत्र हैं। अगर हम और भी अच्छी सामग्री दे सकें और विज्ञापन हासिल करने के लिए अपना कुछ ज़ोर लगा सकें तो हम अपने प्रकाशनों को आगे बढ़ा सकते हैं और फिर प्रकाशकों की टोह में जाने की जरूरत न होगी। दुनिया बेधड़क उत्साही लोगों के लिए बनी है जो अपने मौक़ों का अधिक से अधिक लाभ उठा सकते हैं। तुम

रोज़मर्रा की चीज़ों पर टिप्पणियों के रूप में कॉलम दो कॉलम बड़े मज़े में घसीट सकते हो। बड़े अफ़सोस की बात है कि इतना सब दिमाग़ रखकर भी हम एक साप्ताहिक को कामयाबी के साथ नहीं चला सकते! तुम मिस्टर बिरला से मिलो और उनको हम लोगों के काम का महत्त्व समझाओ और बतलाओ कि हम कैसी-कैसी परेशानियाँ उठाते हैं। वह एक बड़े विज्ञापनदाता है। वह अपनी कपड़े की मिलों, जूट केट-उद्योग और बीमे के व्यवसाय का विज्ञापन करते हैं। हमको भी अपना संरक्षण वह क्यों नहीं दे सकते? अगर तुम सोचते हो कि सुख-सुविधा और धन-सम्पत्ति अपने आप आ जायगी और लक्ष्मी तुम्हारी प्रतिभा के कारण तुम पर इतनी रीझ जायँगी कि आकर तुम्हारे पैरों पर गिर पड़ेंगी तो तुम धोखे में हो। या तो संन्यासी हो जाओ और सांसारिक अभिलाषाएँ त्याग दो। गृहस्थ होकर जबकि एक परिवार का बोझ हमारे कंधों पर है, हमें कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। जब मेरे-जैसा एक टूटा-फूटा बुड्ढा आदमी, जिसके सर पर घर की तुमसे ज्यादा बड़ी ज़िम्मेदारियाँ हैं, अकेले-दम इतना सब कर सकता है, तो फिर तुम्हारे-जैसा प्रतिभाशाली व्यक्ति तो चमत्कार कर सकता है।

शुभकामनाएँ लो! हम सब कुशलपूर्वक है।

सस्नेह—

तुम्हारा
धनपतराय

प्रेमचन्द का गोदान : यदि मैं लिखता

[तीन]

अगर मैं गोदान लिखता ? लेकिन निश्चय है मैं नहीं लिख सकता था, लिखने की सोच नहीं सकता था। पहला कारण कि मैं प्रेमचन्द नहीं हूँ, और अन्तिम कारण भी यही कि प्रेमचन्द मैं नहीं हूँ। वह साहस नहीं, वह विस्तार नहीं। गोदान आस-पास पाँच-सौ पृष्ठों का उपन्यास है। उसके लिए धारणा में ज्यादा क्षमता चाहिए, और कल्पना में ज्यादा सूझ-बूझ। वह न होने से मेरा कोई उपन्यास ढाई सौ पन्नों से ज्यादा नहीं गया। मैं लिखता ही तो गोदान क़रीब दो सौ पन्नों का हो जाता। गोदान का एक संक्षिप्त संस्करण भी निकला है और मानने की इच्छा होती है कि उसमें मूल का सार सुरक्षित रह गया है। यानी दो सौ-ढाई सौ में भी गोदान आ सकता था। और क्या विस्मय, मोटापा कम होने से उसका प्रभाव कम के बजाय और बढ़ जाता, अब यदि फैला है तो तब तीखा हो जाता।

पुस्तक जब शुरू में निकली थी तभी मैंने पढ़ी थी। याद पड़ता है, प्रेमचन्द ने एक अगाऊ प्रति भेज दी थी। यह कोई अठारह वर्ष पहले की बात है। तब से पुस्तक की कथा मन पर कुछ धुंधली हो आई थी। उस समय मैंने लिखा था कि गाँव की कथा पर उसमें शहर कुछ थोपा हुआ-सा है, वह अनिवार्य नहीं है, पुस्तक की कथा के साथ एक नहीं है। हो सकता था कि होरी को कथा के केन्द्र में रहने के लिए, और ऐसे कि सब प्रकाश उसी पर पड़े, दूसरे ब्यौरे ध्यान को खींचकर अपनी ओर न ले जायँ, शहर को पुस्तक से मैं अनुपस्थित हो जाने देता। ऐसे सम्भव था कि शहरी जीवन के प्रति विरोध और अनास्था प्रकट करने का सुभीता न रहता,

ग्रामीण जीवन के प्रति रुचि और सहानुभूति को उबारने का उस प्रकार सुगम अवसर। लेकिन मैं उसका लोभ न करता। कैसे कहूँ कि प्रेमचन्दजी को लोभ का संवरण करना चाहिए था? क्योंकि यह प्रतिपादन तो कदाचित् प्रेमचन्द की प्रेरणा में मुख्य तत्त्व बनकर रहा है। लेकिन मेरी फिर भी मेरी धारणा है कि गाँव और शहर की तुलना और जय-पराजय से अलग करके होरी का चित्रण उतना विविधतापूर्ण और रंग-बिरंग चाहे न बनता, फिर भी उसमें अधिक व्यक्तित्व और एकत्व हो सकता था।

अठारह वर्षों के बाद वह पुस्तक अब फिर जहाँ-तहाँ से देख गया। तब की धारणा नष्ट नहीं हुई, बल्कि पुष्ट ही हुई। हठात् शहर ने आकर पुस्तक के गाँव को चमकाया नहीं है, बल्कि कहीं कुछ बखेरने और ढकने का प्रयास किया है, ऐसा प्रतीत हुआ।

किताब में एक-पर-एक पात्र आते गये हैं। उनकी संख्या पर विस्मय होता है। होरी, धनिया, झुनिया, गोबर, हीरा, सोभा, सोना और रूपा तो एक परिवार के ही हैं। भोला, दुलारी, झिंगुरी साहू, दातादीन, मँगरू साह, पटेश्वरी, मातादीन वग़ैरह भी आस-पास के लोग हैं। शहर के राय साहब, मेहता, खन्ना, तनखा, मिर्ज़ा, मालती आदि आज की नई सभ्यता के लोग हैं। मानना होगा कि ख़ासा मेला है, अगर्चे सबका उसमें अपना-अपना रंग और अपनी व्यक्तिमत्ता है, उनका चित्र सामने आ जाता है। लेकिन शायद मैं होता तो सबको न छूता, दो-चार को लेकर ही काम चला लेता। कुछ तो इसलिए कि मेरा बस उतना नहीं है; कुछ इसलिए भी कि संख्या की अधिकता अवगाहन में सहायक नहीं भी होती, गहनता विस्तार में छिप जाती है, और दृश्य रूप अदृश्य गुण से प्रधान हो जाता है। उससे समाज का और समय का चित्र तो मिलता है, पर आत्म की उतनी गहरी अनुभूति कदाचित् प्राप्त नहीं होती। मुझे ठीक मालूम नहीं कि साहित्य का क्या लक्ष्य है, वह हमें वस्तु-बोध देने के लिए है कि आत्म-प्रकाश देने के लिए? साहित्य

का जो भी इष्ट और उद्दिष्ट हो, स्वीकार करना चाहिए कि मेरी अपनी रुचि विविध जानकारियों के प्रति उतनी नहीं है, न परिचय के विस्तार के प्रति। परिचय अधिक से न हो किन्तु अभिन्नता कुछ से भी हो, तो मुझे यह बड़ा लाभ जान पड़ता है। गहरा मित्र एक हो तो उसकी कीमत सौ जान-पहचान वालों से मेरे लिए ज्यादा हो जाती है। निश्चय प्रेमचन्द हमें बहुत देते हैं, इतनी तरह-तरह की जानकारियाँ देते है कि हम समा नहीं सकते। लेकिन एक दूसरे तरह की उपलब्धि भी है। बौद्धिक से उसे आत्मिक कहा जा सकता है। वह व्यथा की सघनता के रूप में मिलती है। मैं लिखता तो मेरी इच्छा रहती कि मैं उसका ध्यान विशेष रखूं।

प्रेमचन्द भाषा के जादूगर हैं, मुहाविरे उन्हें सिद्ध है। भाषा का यह खेल और यह प्रभाव जैसे उन्हें याद से नहीं उतरता है। इससे जगह-जगह प्रयोग ऐसे आ जाते हैं जो अपने ख़ातिर और सिर्फ़ चमक के लिए आये लगते है। जैसे एक जगह है—

"पुन्नी हाय-हाय करती जाती और कोसती जाती थी, तेरी मिट्टी उठे तुझे हैजा हो जाय, तुझे मरी आ जाय, देवी मैया तुझे लील जाय, तुझे इनफलुन्जा हो जाय, तू कोढ़ी हो जाय, हाथ-पाव फट-फट गिरें..."

दूसरी जगह : "होरी मिनका तक नहीं, झुंझलाहट हुई, क्रोध आया, खून खौला, आँख जली, दाँत पिसे" इत्यादि।

ऐसे प्रयोग बहुत है। यह उनके वर्णन की ही शैली है। जैसे शब्द अपनी ख़ूबी के ज़ोर से बाहर आते और बैठते जाते हैं। मैं होता तो संकेत से काम लेता। 'पुन्नी हाय-हाय करती जाती और कोसती जाती थी', इसके बाद बिना कुछ कहे रह जाता। इसमें निश्चय ही हानि हो जाती, चित्र की यथार्थता उतनी न खिलती, लेकिन वह मुझे स्वीकार होता।

'पुन्नी ने हाय-हाय की और कोसा', यह कहने के बाद उस विलाप को फिर और नाना दुर्वचनों से सचित्र और सांगोपांग

करने से मैं किनारा ले जाता। मनोदर्शन और विश्लेषण में मैं कुछ निश्चित कहने और प्रतिपादन करने से बचता। ज्ञान आख़िर हमारा अनुमान है। क्या उसके आगे प्रश्न-चिह्न नहीं है? इससे कैफ़ियत-भर देता, निदान नहीं।

रायसाहब के पीछे होरी चलता है और रायसाहब बैठकर अपनी गाथा शुरू करते हैं। कहते-कहते वह अपनी स्थिति की बखिया खोलते चले जाते हैं, "हमारा दान और धर्म कोरा अहंकार है। हमारे लोग मिलेंगे तो इतने प्रेम से जैसे हमारे पसीने की जगह ख़ून बहाने को तैयार हों। अरे और तो और, हमारे चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई तो इसी रियासत के बल पर मौज उड़ा रहे हैं, कविता कर रहे हैं, और जुए खेल रहे हैं, शराबें पी रहे हैं, और ऐयाशी कर रहे हैं···आज मर जाऊँ तो घी के चिराग़ जलायें। मेरे दुःख को दुःख समझनेवाला कोई नहीं है। उनकी नज़रों में मुझे दुःखी होने के कोई अधिकार ही नहीं हैं। मैं अगर रोता हूँ तो दुःख की हँसी उड़ाता हूँ। अगर मैं बीमार होता हूँ तो मुझे सुख होता है। अगर अपना ब्याह करके घर में कलह नहीं बढ़ाता तो यह मेरी नीच स्वार्थपरता है। ब्याह कर लूँ तो विलासान्धता होगी। अगर शराब नहीं पीता तो यह मेरी कमज़ोरी है, शराब पीने लगूँ तो वह प्रजा का रक्त होगी। अगर ऐयाशी नहीं करता तो अरसिक हूँ। ऐयाशी करने लगूँ तो फिर कहना ही क्या है! इन लोगों ने मुझे भोग-विलास में फँसाने के लिए कम चालें नहीं चलीं और अब तक चलते जाते हैं। उनकी यही इच्छा है कि मैं अन्धा हो जाऊँ, और ये मुझे लूट लें। और मेरा धर्म यह है कि सब-कुछ देखकर भी कुछ न देखूँ, सब-कुछ जानकर भी अन्धा बना रहूँ।"

इस तरह रायसाहब कहते ही जाते हैं। रायसाहब कौंसिल के मेम्बर हैं, बड़े आदमी हैं। होरी रैयत नाचीज है, लेकिन दो पन्नों तक वह नहीं रुकते, और मुंह पान से भरकर फिर आगे कहते हैं, "हमारे नाम बड़े हैं पर दर्शन थोड़े हैं।" और इस तरह काफ़ी

समाज-शास्त्र और तत्त्व-शास्त्र की सी चर्चा करते चले जाते हैं। कहते हैं, "दुनिया समझती है, हम बड़े सुखी हैं, हमारे पास इलाक़े, महल, सवारियाँ, नौकर-चाकर, क़र्ज़, वेश्याएँ, क्या नहीं है? लेकिन जिसकी आत्मा में बल नहीं और चाहे कुछ हो, आदमी नहीं है। जिसे दुश्मन के भय के मारे रात को नींद भी न आती हो, जिसके दुःख पर सब हँसें और रोनेवाला कोई न हो, जिसकी चोटी दूसरों के पैर के नीचे दबी हो, जो भोग-विलास के नशे में अपने को भूल गया हो, जो हुक्काम के तलवे चाटता हो और अपने अधीनों का खून चूसता हो, उसे मैं सुखी नही कह सकता।"···रायसाहब कहते ही जाते हैं कि दो पन्ने और भर जाते हैं!

इस लम्बे उद्‌गार का प्रयोजन यह है कि आगे उन्हीं को गुस्सा होते और उससे बिल्कुल उल्टा आचरण करते दिखाया जाय। मुझे लगता है कि शब्दों को उतना सोच न पाता, उनके प्रयोगों से मैं जल्दी हार जाता। मैं मानता भी हूँ कि शब्दों को कहीं चुक जाना चाहिए। बुद्धि की भाषा ही शाब्दिक है, व्यथा मौन द्वारा बोलती है। प्रेमचन्द में यहाँ भी शब्द मुखर हैं, जहाँ मैं उनसे हार मान बैठता और शब्दहीनता में सहारा ले रहता।

प्रेमचन्द में प्रेम का व्यापार भी शब्दों से उतना मुक्त नहीं है। गोबर किशोर है और सामने झुनिया को पाता है। झुनिया छोटी सी थी तभी गाहकों के घर दूध ले जाया करती थी। सुसराल में भी उसे गाहकों के घर दूध पहुँचाना पड़ता था। आजकल भी दही बेचने का भार उसी पर था। उसे तरह-तरह के मनुष्यों से साबिका पड़ चुका था। दो-चार रुपये हाथ लग जाते थे, घड़ी-भर के लिए मनोरंजन भी हो जाता था। मगर यह आनन्द जैसे मँगनी की चीज़ हो; इसमें टिकाव न था, समर्पण न था, अधिकार न था। वह ऐसा प्रेम चाहती थी जिसके लिए वह जिये और मरे, जिस पर वह अपने को समर्पित कर दे। वह केवल जुगनू की चमक नहीं, दीपक का स्थायी प्रकाश चाहती है। वह झुनिया गूढ़ बात

करती है। कहती है, 'तुम मेरे हो चुके, कैसे जानूं ? गोबर ने कहा 'तुम जान भी चाहो तो दे दूं।' 'जान देने का अर्थ भी समझते हो ?' 'तुम समझा भी दो ना', 'जान देने का अर्थ है साथ रहकर निवाह करना। एक बार हाथ पकड़कर उमर-भर निवाह करके रहना। चाहे दुनिया कुछ कहे, चाहे माँ-बाप, भाई-बन्द, घर-द्वार सब कुछ छोड़ना पड़े। मुँह से जान देनेवाले बहुतों को देख चुकी, भौरों की भाँति फूल का रस लेकर उड़ जाते है। तुम भी वैसे ही न उड़ जाओगे !'

आगे भी वह कहती जाती है, 'एक-से-एक ठाकुर, महाराज, बाबा, वकील, अमले, अफसर अपना रसियापन दिखाकर मुझे फँसा लेना चाहते हैं। कोई छाती पर हाथ रखकर कहता है, 'झुनिया, तरसा मत।' कोई मुझे रसीली-नसीली चितवन से घूरता है, मानो मारे प्रेम के बेहोश हो गया है। कोई रुपये दिखाता है, कोई गहने। सब मेरी गुलामी करने को तैयार रहते हैं, उमर-भर, बल्कि उस जन्म भी। लेकिन मैं उन सबों की नस पहचानती हूँ, सब-के-सब भौरे हैं, रस लेकर उड़ जानेवाले। मैं भी उन्हें ललचाती हूँ, तिरछी नजरों से देखती हूँ, मुस्कराती हूँ। वे मुझे गधी बनाते है, मैं उन्हें उल्लू बनाती हूँ।'

नहीं, निश्चय ही कैशोर प्रेम को मैं किसी भी प्रकार इतना प्रगल्भ, इतना हिसाबी, इतना मुखर न बना सकता। प्रेम की विवशता और स्वच्छन्दता में और कितना ही आगे मैं बढ़ता, लेकिन किसी भी प्रकार इतना सशब्द न हो सकता। जीवन के पहले प्रेम में ये शब्द यदि किसी ओर से सुन मिलते कि 'वह गधी बनाते हैं मैं उल्लू बनाती हूँ,' तो मेरी क़लम फिर किसी तरह वहाँ प्रेम को टिका न पाती।

मत-मान्यताओं से भी लिखने का सम्बन्ध रहता है। शायद वह सम्बन्ध सीधा तो नहीं होता पर चरित्र-चित्रण में आ ही जाता है। होरी के गाँव के जितने नेता हैं, सब धूर्त हैं और सब धार्मिक

हैं। धर्म का और धूर्तता का वैसा गँठजोड़ मेरे मन में उतना निश्चित नहीं है। धूर्तता सब में है और धर्म की आवश्यकता भी सब में है। इसलिए एक में दोनों चीज़ें मिलें, इसमें कुछ भी अनहोनी बात नहीं है। लेकिन उसमें कार्य-कारण का सम्बन्ध देख लेना मेरे बस का न हो पाता। प्रेमचन्दजी जैसे इसी आविष्कार तक जा पहुँचे हैं। पंडित दातादीन, लाला पटेश्वरी, ठाकुर झिंगुरीसिंह, पं० नोखेराम सब ही एक-न-एक रूप में भक्ति-उपासना में समय देते हैं; लेकिन उसी कारण जैसे दुखिया के दुःख के प्रति वे और भी हृदयहीन हो जाते हैं।

मैं उनके स्वभाव को ज्यों-का-त्यों रखकर भी शायद प्रेमचन्द के निदान से सहमत न होता। धर्म सीधा धूर्तता उपजाता हो तो जैसे समस्या बहुत सीधी हो जाती है और उतने सीधे चलकर मुझे नहीं मालूम होता कि मुझे संतोष हो सकता है।

संक्षेप में गोदान में जो होरी निपट भाग्य के सामने अकेला जूझता हुआ फिर भी निरुपाय-सा दिखाया गया है, मैं उसको तो न छूता और ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखता। फिर भी भाग्य को किन्हीं तात्कालिक परिस्थितियों अथवा व्यक्तियों से परिभाषा देने का प्रयत्न न करता कि जैसे होरी शिकार हो, शिकारी दूसरे हों। मेरी कोशिश होती कि दिखाता कि सब जैसे शिकार ही हैं और वृथा ही एक-दूसरे को शिकार बनाने का प्रयत्न करते हैं। असल में शक्तियाँ निर्वैयक्तिक हैं और उनमें सत् के साथ रहने और असत् के साथ लड़ने के लिए सहानुभूतियों का बँटवारा करने की जरूरत नहीं है। वैसा मैं कर सकता तो मानता कि मेरा 'गोदान' सफल है।